प्रतिमान

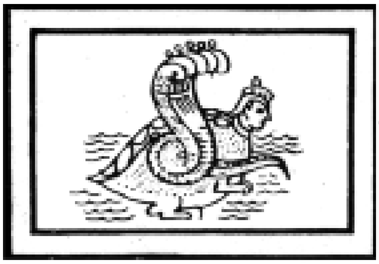

बहुरूपी होता हुआ इतिहास

प्रथमा बनर्जी

अनुवाद : नरेश गोस्वामी

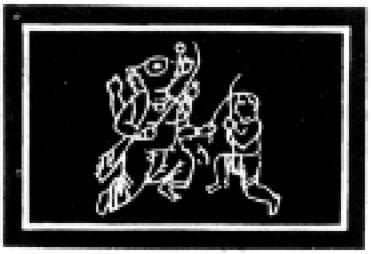

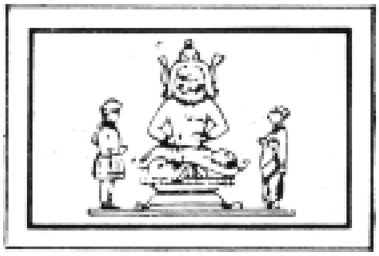

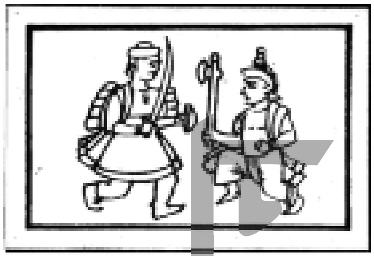

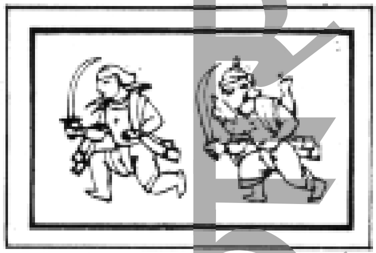

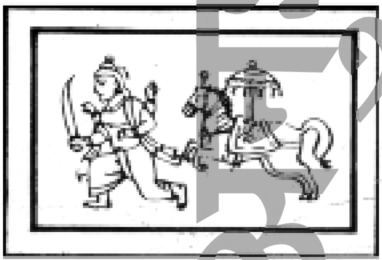

दक्षिण एशिया में इतिहास का आधुनिक रूप उपनिवेशवाद के हाथों गढ़ा गया है। अतीत के राजनीतिक वृत्तांतों के स्थूल अर्थ में इतिहास-लेखन दक्षिण एशिया में आधुनिक काल के शुरुआती दौर में ही काफ़ी प्रचलित हो गया था, परंतु अतीत के कई सारे आख्यानों को छाँट-तराश कर उन्हें समय के प्रवाह में एकल और सार्वभौम इतिहास बनाने की कार्रवाई औपनिवेशिक आधुनिक समय की ही घटना है। इसके बाद इतिहास न केवल पढ़ने और लिखने की चीज़ बनता गया, बल्कि वह मूर्त भी होने लगा और साथ ही व्यक्ति के कार्य-कलापों के हाथों उसका

निर्माण भी होने लगा। इस तरह इतिहास के इतिहास बनने की कथा औपनिवेशिक आधुनिकता के दौरान समय की संकल्पना तथा अनुभव में होने वाले अभूतपूर्व रूपांतरण की कहानी भी बन जाती है। ग़ौर से देखें तो आधुनिक शब्द ख़ुद में एक कालसूचक पद है जो अपने अन्य आशयों में सबसे ज़्यादा समय के पश्चात् आगमन और अग्रगामिता आदि की ओर इंगित करता है। दूसरे शब्दों में, अपनी परिभाषा की दृष्टि से आधुनिकता एक कालसूचक पदानुक्रम की स्थिति है। और, यह तो हम जानते ही हैं कि ऐतिहासिक चिंतन आधुनिकता की विचार-भूमि पर खड़ा है।

प्रस्तुत लेख में मैंने दक्षिण एशिया में इतिहास और ऐतिहासिक चिंतन के अंतर्गुम्फित प्रश्नों को तीन खण्डों में बाँटकर देखने का प्रयास किया है। पहले खण्ड में मैंने विशेषकर इस बात पर विचार किया है कि इतिहास की एक सम्भावित परिस्थिति के रूप में सार्वभौम, एकसार और रैखिक समय किस तरह अस्तित्व में आया। दूसरे खण्ड में मैंने ऐतिहासिक चिंतन के रूपांतरण को औपनिवेशिक, राष्ट्रीय, सबाल्टर्न और अकादमिक लामबंदी के बदलते विन्यास के बरअक्स रखकर देखा है। तीसरा खण्ड उन कालसूचक संकल्पनाओं— परम्परा, मिथक, स्मृति, जीवन-वृत्त आदि जैसी कालिक संकल्पनाओं पर केंद्रित है जिन्हें इतिहास से इतर माना जाता है और जो ज्ञान के एक रूप में इतिहास की सीमाओं को प्रश्नांकित करती हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो यहाँ मैने दक्षिण एशिया के संदर्भ में इतिहास की समय, अनुशासन, चिंतन-प्रणाली, लेखन की एक विधा और राजनीतिक आत्म के रूप में पड़ताल की है।

समय की राजनीति

ब्रिटिश सामाजिक इतिहासकार ई.पी. थॉमसन ने 1967 में प्रकाशित अपने क्लासिक निबंध में यह पेशबंदी की थी कि आधुनिक कालसूचकता यानी समय को एक निस्सीम, सार्वभौम, रैखिक, मापन-योग्य और क्रमिक शृंखलाओं की कड़ियों के रूप में देखना आधुनिक काल के औद्योगिक अनुशासन और कामकाज के घंटों को घड़ी से नापने की जुस्तजू का नतीजा था।[1]

विद्वत् जगत आज इस दलील को हू-ब-हू स्वीकार नहीं करता। विद्वानों का कहना है कि आधुनिकता के आगमन के साथ घड़ियों में दर्ज समय और रैखिक कालक्रम भले ही पूरी दुनिया पर छा गया हो, परंतु इसके बावजूद लोगों के पास अपने कामकाज और अन्य प्रयोजनों के लिए ऐसे कई अलग-अलग तरह के समय थे जिनकी आपस में तुलना नहीं की जा सकती थी।[2] निस्संदेह समय के आज भी ऐसे कई पुरातन और नये रूप विद्यमान हैं जो उसके घड़ी, पंचांग और इतिहास में विन्यस्त आधुनिक रूपों को मुँह चिढ़ाते रहते हैं। पर इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि चिंतन के धरातल पर एक अमूर्त क़िस्म के कालक्रम का दबदबा आज भी उसी तरह क़ायम है जिस तरह आधुनिकता की अवधारणा ने ख़ुद को समय की अग्रगति या उन्नत अवस्था का पर्याय बना लिया है। दूसरे शब्दों में, थॉमसन का यह पूछना कि आख़िर कालसूचकता की आधुनिक प्रस्थापना कैसे वर्चस्वकारी भूमिका में आ गयी, आज भी अपनी जगह क़ायम है। लेकिन दक्षिण एशिया में औपनिवेशिक इतिहास की विविधता इस बात का मुजाहिरा करती है कि थॉमसन का उत्तर किस क़दर नाकाफ़ी है।

औपनिवेशिक दक्षिण एशिया में आधुनिक कालसूचकता की विभिन्न तकनीकें ऐतिहासिक चिंतन की शुरुआत से पहले ही अस्तित्व में आ चुकी थीं। इस आम विमर्श की एक ख़ास तकनीक अट्ठारहवीं

---

[1] ई.पी. थॉमसन (1967), 'टाइम, वर्क-डिसिप्लिन ऐंड इण्डस्ट्रिअल कैपिटलिज़म', *पास्ट ऐंड प्रज़ेंट,* खण्ड 38, अंक 1 : 56-97.

[2] पी. ग्लेनी तथा नाइजेल थ्रिफ़्ट (1996), 'रिवर्किंग ई.पी. थॉमसंस टाइम, वर्क-डिसिप्लिन ऐंड इण्डस्ट्रिअल कैपिटलिज़म', *टाइम ऐंड सोसाइटी,* खण्ड 5, अंक 3 : 275-299 ; पार्थ चटर्जी (2001), 'द नेशन इन हेटरोजेनिअस टाइम', *इण्डियन इक्नॉमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू,* खण्ड 38, अंक 4 : 399-418.

सदी के आख़िरी दौर में उभरी वह प्रवृत्ति थी जिसके तहत दुनिया के कालक्रम की प्रणालियों, ख़ास तौर पर *बाइबिल* में उल्लेखित उद्धरणों को दक्षिण एशिया के कालक्रमों के समकक्ष रख दिया जाता था। इसमें भारत की पुराण-परम्परा जैसे पूर्व-मिथकीय ऐतिहासिक वृत्तांतों में वर्णित युगों का कालक्रम भी शामिल था।[3] ज्योर्जियो अगम्बेन कहते हैं कि तुलना के इस तरीक़े ने ईसाइयत के सेकुलर समय को इतिहास का समय बना दिया।[4] इस पद्धति ने जल्द ही एक औपनिवेशिक तुलनात्मक विज्ञान का रूप ले लिया जिसे दुनिया भर में धर्मों, भाषाओं और नातेदारी की व्यवस्थाओं पर लागू किया जाने लगा। इस तरह आधुनिक ज्ञान-मीमांसा में तुलना-विश्लेषण की एक लगभग स्थायी प्रणाली की तरह स्थापित हो गयी। उसके दायरे में केवल भाषाशास्त्र तथा मानव-विज्ञान जैसे नये विषय ही नहीं आने लगे, बल्कि ख़ुद ऐतिहासिक चिंतन भी उसकी ताबेदारी करने लगा। और उपनिवेशितों को इस बात के लिए मजबूर कर दिया गया कि वे अपने ऐतिहासिक व्यक्तित्वों (जैसे चाणक्य को भारत का मैकियावेली बताना), घटनाओं (भारत में फ्रांसीसी क्रांति की तलाश करना), अवधारणाओं (इतिहास को हिस्ट्री का समानार्थक मानना), यहाँ तक कि इतिहास के कालखण्डों (प्राचीन को क्लासिकल और मध्यकालीन को सामंती क़रार देना) के सादृश्य ढूँढ़ते रहें।

इस तुलनात्मकता के साथ औपनिवेशिक शासन की एक और मुहिम भी चल रही थी जिसके तहत विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित देशज पंचांगों को दुरुस्त किया जा रहा था। दक्षिण एशिया में हर क्षेत्र, संस्कृति और धर्म के पास भिन्न-भिन्न क़िस्म के पंचांग मौजूद थे। अट्ठारहवीं शताब्दी के परवर्ती और उन्नीसवीं सदी के शुरुआती दौर के रजवाड़ों के पास भी अपने-अपने पंचांग हुआ करते थे। औपनिवेशिक सत्ता ने इन पंचांगों का अध्ययन और उनका दस्तावेज़ीकरण करके अंततः इन सारे पंचांगों को प्रतिस्थापित कर दिया। इस सत्ता का कहना था इन पंचांगों में कई पंचांग गणितीय दृष्टि से पूरी तरह अचूक हैं पर पंचांगों की विविधताएँ क्षेत्रों और समुदायों तथा सेकुलर, धार्मिक, आर्थिक मसलों और त्योहारों के निर्धारण आदि के मामलों में बाधा उत्पन्न करती हैं। इस तरह औपनिवेशिक सत्ता ने सटीकता के बजाय अनुकूलता को तरजीह दी और पूरी दुनिया के लिए एक ही पंचांग यानी ग्रेगोरियन पंचांग मुक़र्रर कर दिया। कहना न होगा कि इस प्रक्रिया का दूसरा पहलू अंततः दक्षिण एशिया के प्रचलित पंचांगों के सांस्कृतिक अनुकूलन में निकला। (मसलन, उन्नीसवीं सदी के आख़िरी वर्षों में बंगाल के ज्योतिषियों की एक सभा में यह निर्णय लिया गया कि रोज़मर्रा के सांसारिक कार्यों के लिए ईसाई पंचांग का प्रयोग किया जाए जबकि कर्मकाण्डों और त्योहारों आदि के लिए बंगाली पंचांग का इस्तेमाल जारी रखा जाए।)[5]

कहने का मतलब यह नहीं है कि पूर्व-औपनिवेशिक काल में दक्षिण एशिया के समाजों में कालिकता या कालसूचकता का संख्याओं से कोई संबंध ही नहीं था। दुनिया में समय को इंगित करने के लिए हर जगह पंचांगों का इस्तेमाल किया जाता था और इस तरह उनके ज़रिये राजाओं, वंशों, कर्मकाण्डों और यहाँ तक ब्रह्माण्डीय घटनाओं का कालक्रम निर्धारित किया जाता था। लेकिन पंचांगों की यह विविधता कालक्रमों की विविधता यानी उद्गम, शृंखलाओं, क्रम, काल-निर्धारण तथा महत्त्व आदि को भी ज्ञापित करती थी। इससे कहीं ज़्यादा अहम बात यह है कि पंचांगों की इस विविधता का मतलब यह भी था कि समय और कालक्रम सुस्पष्ट अवधारणाएँ थीं— कालक्रम को समय के अंदर चिह्नित किया जाता था लेकिन उसे लेकर यह बात साफ़ थी कि कालक्रम स्वयं समय का पर्याय

---

[3] थॉमस ट्रॉटमैन (2008), *द क्लैश ऑफ़ क्रॉनोलॅजीज़ : एंशिएंट इण्डिया इन द मॉडर्न वर्ल्ड*, योडा प्रेस, नयी दिल्ली.

[4] जी. अगम्बेन (1993), *इनफैंसी ऐंड हिस्ट्री : एसेज़ ऑन द डिस्ट्रक्शन ऑफ़ एक्सपीरिएंस*, अन. एल. हेरोन, वर्सो, न्यूयॉर्क : 64.

[5] प्रथमा बनर्जी (2006), *पॉलिटिक्स ऑफ़ टाइम : प्रिमिटिव ऐंड हिस्ट्री-राइटिंग इन अ कोलोनिअल सोसाइटी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली : 64.

17_prathama_Layout 1 5/1/2014 4:59 PM Page 204

पंचांगों की इस विविधता का मतलब यह भी था कि समय और कालक्रम सुस्पष्ट अवधारणाएँ थीं— कालक्रम को समय के अंदर चिह्नित किया जाता था लेकिन उसे लेकर यह बात साफ़ थी कि कालक्रम स्वयं समय का पर्याय नहीं है।

नहीं है। परंतु औपनिवेशिक आधुनिकता के प्रभावस्वरूप दुनिया में एक ही पंचांग की सार्वभौम प्रतिष्ठा ने समय को कालक्रम का पयार्यवाची बना दिया। इसके पश्चात समय को संख्याओं का एक ऐसा प्रतिरूप बना दिया गया जो पूर्वापर संबंधों के अलावा और कुछ नहीं दर्शाता था। संख्याओं की एकल कड़ियों में व्यक्त किये जाने वाला यह नया समय एक ऐसा सर्वसामान्य तत्त्व बन गया जिसके आधार पर तमाम घटनाओं, लोगों और दुनिया की शासन-व्यवस्थाओं की तुलना और आकलन किया जा सकता था और अंततः उन्हें पूर्व और पश्चात् के क्रम में रखा जा सकता था।

जैसा कि हम जानते हैं, विभिन्न मानव-समुदायों को समय के एक समान पैमाने के आधार पर आगे-पीछे रखने की इस तकनीक का वैश्विक निहितार्थ यह निकला कि कुछ समुदायों को आदिम, कुछ को पिछड़ा और कुछ को आधुनिक घोषित कर दिया गया। यानी अलग-अलग मानव-समूहों को, जिनके पास बाक़ायदा अपना एक ख़ास इतिहास और काल-बोध था, काट-छाँटकर एक सार्वभौम ऐतिहासिक समय की अलग अलग अवस्थाओं में ठूँस दिया गया। इस अर्थ में, आधुनिक समय आधुनिक मुद्रा की तरह काम करने लगा जिसमें एक दूसरे से निपट अलग वस्तुओं और तत्त्वों को एक सर्वनिष्ठ आधार पर आनुपातिक क्रम, मूल्यांकन और विनिमय की व्यवस्था में रखा जा सकता है। अट्ठारहवीं सदी के आख़िरी और उन्नीसवीं सदी के शुरुआती दौर में उभरे मानवशास्त्र तथा इतिहास जैसे अनुशासनों का विधेयात्मक ढाँचा आधुनिक-पिछड़े-आदिम की इसी तुलना पर खड़ा था। और इसका आधार था सीधी रेखा में चलने वाला सार्वभौम समय। इस औपनिवेशिक-आधुनिक का दावा था कि आधुनिक समाज ऐतिहासिक और गतिशील है जबकि पिछड़े समाज अनैतिहासिक और जड़ता से घिरे हुए हैं। आधुनिक समाज अमूर्त चिंतन करने में सक्षम थे जबकि पिछड़े समाज केवल अनुभव, वर्गीकरण और प्रतीक की भाषा में ही सोच सकते थे। आधुनिक समाज सैद्धांतिक और पिछड़े केवल सांस्कृतिक थे। आधुनिक समाजों को भविष्य का बोध था और इस नाते वे समय में अनंत प्रगति कर सकते थे, जबकि पिछड़े समाज केवल अपने वर्तमान के बारे में सोचते थे इसलिए समय की गति के हिसाब से गतिहीनता का शिकार थे आदि आदि।[6]

परंतु इस संदर्भ में यह ज़रूर याद रखा जाना चाहिए कि दुनिया में मानव-समुदायों का आदिम और पिछड़ों के रूप में निर्धारण केवल एक विमर्शगत क़वायद ही नहीं थी। इसके पीछे कई भौतिक प्रक्रियाएँ भी काम कर रही थीं। औपनिवेशिक शासन के दौरान दक्षिण एशिया में समुदायों को आदिम बनाने का काम पहाड़ियों और जंगलों में रहने वाले समुदायों जैसे संथाल, भील, गोंड, नगा आदि की बाक़ायदा भौगोलिक घेरेबंदी के ज़रिये किया गया। इन समुदायों को उन ख़ास भौगोलिक इलाक़ों में परिसीमित कर दिया गया जिन्हें नॉन-रेगुलेशन या अनशेड्यूल्ड डिस्ट्रिक्ट कहा जाता था यानी जिन्हें

---

[6] जी.डब्ल्यू.एफ़. हीगेल (1975 / 1822), *लेक्चर्स ऑन द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ हिस्ट्री,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज : 56-57; एफ़. हसर (1970), *द क्राइसिस ऑफ़ युरोपियन साइंसेज़ ऐंड ट्रांसेंडेंटल फ़िनॉमिनालॅजी,* नॉर्थवेस्टर्न युनिवर्सिटी प्रेस, ईवांसटन, आईएल : 280-83.

17_prathama_Layout 1 5/1/2014 4:59 PM Page 205

ब्रिटिश भारत में प्रचलित क़ानूनी और प्रशासनिक संरचना से अलग रखा गया था। इन समुदायों को, जिन्हें अब औपनिवेशिक राज्य ने विशिष्ट समुदायों के तौर पर परिभाषित करके अपने संरक्षण में ले लिया था, राज्य की नज़र में विकसित समुदाय के साथ स्वतंत्र रूप से संपर्क करने में अक्षम माना जाता था। लिहाज़ा अब आदिवासियों पर अपने पड़ोसी क्षेत्रों के ज़मींदारों, राजाओं तथा खेतिहर जातियों के साथ राजनीतिक और सामाजिक संबंध क़ायम करने पर पाबंदी लगा दी गयी। ग़ौरतलब है कि पूर्व-औपनिवेशिक काल में उन पर ऐसी कोई पाबंदी आयद नहीं थी। इसके पीछे औपनिवेशिक तंत्र का तर्क यह था कि आदिम और ऐतिहासिक समुदायों के बीच आर्थिक लेन-देन के संबंध को छोड़कर अन्य किसी भी तरह की निकटता अव्यवस्था और हिंसा का सबब बन सकती है। इसलिए औपनिवेशिक सत्ता ने दक्षिण एशिया के तथाकथित आदिम और अंदरूनी इलाक़ों में हाट-बाज़ार स्थापित किये। बाद में औपनिवेशिक पुलिस की कड़ी नज़र और राजस्व अधिकारियों के नियंत्रण में चलने वाले ऐसे औपनिवेशिक बाज़ार आदिवासियों और ग़ैर-आदिवासियों के बीच औपचारिक सम्पर्क का एकमात्र ज़रिया रह गये।

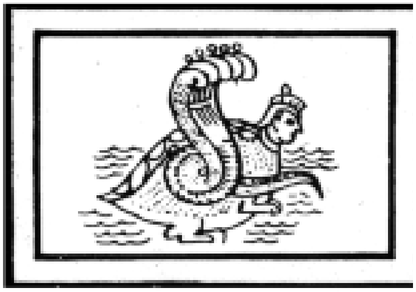

औपनिवेशिक आधुनिकता के प्रभावस्वरूप दुनिया में एक ही पंचांग की सार्वभौम प्रतिष्ठा ने समय को कालक्रम का पयार्यवाची बना दिया। इसके पश्चात् समय को संख्याओं का एक ऐसा प्रतिरूप बना दिया गया जो पूर्वापर संबंधों के अलावा और कुछ नहीं दर्शाता था।

इस भौतिक प्रक्रिया ने, जिसके ज़रिये तथाकथित आदिम समूहों को पहले तो मुख्यधारा के समाज से अलग-थलग किया गया और बाद में उनका इस समाज से संबंध सिर्फ़ आर्थिक लेन-देन तक सीमित कर दिया गया था, दक्षिण एशिया के अनेक मूल निवासियों को भीषण दरिद्रता की ओर ठेल दिया। ग़ैर-आर्थिक संबंधों का तंतु टूटने से उनका दूसरों के साथ राजनीतिक संबंध स्थापित करने या शुल्क लेने का अधिकार जाता रहा। अब वे केवल बाज़ार में ख़रीद-फरोख़्त ही कर सकते थे; या महाजनों से क़र्ज़ भर ले सकते थे। इस तरह ऋणग्रस्तता उनके जीवन की एकमात्र स्थिति बनकर रह गयी। यह विचित्र है कि उनकी ऋणग्रस्तता को इस बात का पुख़्ता सुबूत माना गया कि ऐसे आदिम समुदाय क़र्ज़ चुकाना नहीं जानते। कहा गया कि आदिवासियों को ख़र्च रोकने, बचत या निवेश करने की तमीज़ इसलिए नहीं है क्योंकि उन्हें भविष्य का कोई बोध नहीं है। वे आने वाले समय की इकाइयों को वित्तीय अर्थ में नहीं देख सकते। इस तरह उन्हें पूरी तरह अनुत्पादक क़रार दे दिया गया। दूसरे शब्दों में, उनके आदिम होने को कालबोध के अभाव और नतीजतन आर्थिक सोच की कमी का परिणाम बताया गया। आदिवासियों के साथ इस प्रकार का आर्थिक विनिमय करने वालों में केवल औपनिवेशिक अधिकारी ही शामिल नहीं थे, भारतीय मध्यवर्ग और व्यावसायिक समूहों का रवैया भी इससे अलग नहीं था।

आदिवासियों की उनके संबंधों के पूर्व-संसार से बेदख़ली और उनके दरिद्रीकरण का परिणाम यह हुआ कि श्रम बाज़ार में उन्हें निपट और मुक्त श्रम का प्रतिरूप मान लिया गया। आदिवासी समूहों को उनकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ जबरन रेलवे के कार्यों में झोंका और श्रम के लिए जहाज़ों से यहाँ-वहाँ ले जाया जाने लगा। दण्डकारी ख़रीद-फरोख़्त तथा श्रम कानूनों की व्यवस्था के अलावा बागानों के अनुबंध आधारित श्रम बाज़ार तथा खदानों के श्रम बाज़ार दो ऐसे ख़ास तत्त्व थे जिन्होंने इस प्रक्रिया को सबसे ज़्यादा गहराई से प्रभावित किया। दूसरे शब्दों में, भौतिक पृथक्करण, काम के लिए अनजानी जगहों पर जबरन लदान, बेगारी तथा क़र्ज़ अदायगी की प्रतिकूल शर्तों ने दक्षिण एशिया में आदिवासियों

17_prathama_Layout 1 5/1/2014 4:59 PM Page 206

ज्ञान-मीमांसा और राजनीति के लिहाज़ से भी यह संबंध प्रतिनिधित्व पर ही टिका था। यही कारण था कि दक्षिण एशिया में ऐतिहासिक समय यानी राष्ट्रीय प्रगति और आत्म-सुधार का समय हमेशा आधुनिक तथा विकासमूलक समय के साथ चलता रहा तथा जिसने राष्ट्र के आधुनिक नागरिक और पिछड़े जनों के बीच समय, ज्ञानशास्त्रीय तथा राजनीतिक पदानुक्रम का ढाँचा खड़ा कर दिया।

को महज़ ऐसी देह बना कर रख दिया जिनका यहाँ से वहाँ खटने के अलावा कोई और समय नहीं था। इस व्यवस्थित और अनुशासित समय का ध्येय आदिम लोगों की समयातीत और दैहिक हस्ती को, जो तथाकथित रूप से कामुकता, हिंसा और अतिचार में डूबी थी, वश में करना था क्योंकि अगर उन्हें इस तरह नियंत्रित न किया जाता तो वे अपना समय फ़ालतू के नाच-गाने, यौन आनंद, तीज-त्योहार, दावतों और बेमतलब की फ़ित्नाग़री में उड़ा देते।[7]

हालाँकि उपनिवेश में इस तरह के आदिम समुदाय का निर्माण सबसे ज़्यादा मानवशास्त्र के दायरे में परिलक्षित होता दिखता है, परंतु यह याद रखना ज़रूरी है कि दक्षिण एशिया में ऐतिहासिक चिंतन भी आदिम की इस नवनिर्मित छवि पर आधारित था। उपन्यासकार, व्यंग्यकार, चिंतक और बांग्ला को साहित्यिक व विचारपरक तेवर प्रदान करने वाले नायक बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय की प्रसिद्ध उक्ति है कि उपनिवेश के शिकार लोगों का पहला कार्यभार अपना इतिहास स्वयं लिखने का है। बंकिम के इस इतिहास की केंद्रीय समस्या यह थी कि आदिम जनजातियाँ और उन्नत कहे जाने वाले समुदाय उसी भूमि पर साथ-साथ रहते आये थे। उपनिवेशवादियों की तरह उपनिवेशितों को यह मयस्सर नहीं था कि वे मूलवासियों को किसी अन्य महाद्वीप में भेज कर उन्हें एक विशुद्ध अन्य में बदल सकें। उपनिवेशित मजबूर थे कि वे इस आदिम को राष्ट्र और राष्ट्र के इतिहास का अभिन्न अंग स्वीकार करें। दूसरे शब्दों में, कालसूचकता के लिहाज़ से उपनिवेशित राष्ट्र ख़ुद ही आदिम, पिछड़े और आधुनिक तत्त्वों में बँटा था इसलिए इन सारे हिस्सों को एक ही ऐतिहासिक समय और इतिहास के उसी वृत्तांत में शामिल करना एक मुश्किल काम था। बंकिम का क़यास था कि शायद इसी कारण राष्ट्र को सबसे पहले एक उपनिवेश बनाया गया, क्योंकि कालसूचकता की दृष्टि से यह राष्ट्र भानुमती का कुनबा था।[8]

लिहाज़ा इस उपनिवेशित राष्ट्र और इसके इतिहास के सामने मुख्य समस्या यह थी कि आदिम इसी राष्ट्र में अंतस्थ था और जो इस राष्ट्र को पूरी तरह आधुनिकता के रास्ते पर जाने से रोक रहा था। इस तरह दीपेश चक्रवर्ती की मर्मभेदक उक्ति के अनुसार दक्षिण एशिया में ऐतिहासिक चिंतन की केंद्रीय समस्या केवल यह नहीं थी कि एक राष्ट्र के रूप में उपनिवेशित ख़ुद को इतिहास के प्रतीक्षालय में बैठा महसूस करते थे और विकसित देशों की उन्नत ऐतिहासिक अवस्था का सिरा पकड़ने के लिए जी-जान एक किये हुए थे ताकि किसी अन्य (युरोप) के इतिहास को अपने राष्ट्रीय मंच पर मूर्त कर सकें।[9] दक्षिण एशिया के ऐतिहासिक चिंतन की केंद्रीय समस्या यह भी थी कि इसके अलग-अलग

---

[7] यह चर्चा बनर्जी (2006) के तीसरे अध्याय 'देबी, टाइम ऐंड एक्स्ट्रावैगेंज़' पर आधारित है : 119-157

[8] बंकिम चंद्र चटर्जी, 'बंगालीर उत्पत्ति' (बंगाली का उद्‌भव) , *बंगदर्शन,* 1880, प्रथमा बनर्जी (2006) में उद्‌धृत और उल्लिखित : 52-53.

[9] दीपेश चक्रवर्ती (2000) *प्रोविंसियलाइज़िंग युरोप : पोस्ट-कोलोनिअल थॉट ऐंड हिस्टोरिकल डिफ़रेंस,* प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, एनजे.

17_prathama_Layout 1 5/1/2014 4:59 PM Page 207

जन समकालीनता से दूर खड़े थे और जिनका एक ही समय और स्थान पर एक-दूसरे के सामने आना असम्भव लगता था। दूसरे शब्दों में, आदिम और पिछड़े समुदायों का वर्तमान (जिसमें वे अनुपस्थित प्रतीत होते थे) में जनसंख्या के विकसित हिस्सों द्वारा केवल प्रतिनिधित्व ही किया जा सकता था। इस प्रकार दक्षिण एशिया में ख़ुद को आधुनिक कहने वाले मध्यवर्ग ने इन तथाकथित आदिम और पिछड़े समुदायों के साथ एक प्रतिनिधित्वमूलक संबंध क़ायम किया। ज्ञान-मीमांसा और राजनीति के लिहाज़ से भी यह संबंध प्रतिनिधित्व पर ही टिका था। यही कारण था कि दक्षिण एशिया में ऐतिहासिक समय यानी राष्ट्रीय प्रगति और आत्म-सुधार का समय हमेशा आधुनिक तथा विकासमूलक समय के साथ चलता रहा तथा जिसने राष्ट्र के आधुनिक नागरिक और पिछड़े जनों के बीच समय, ज्ञानशास्त्रीय तथा राजनीतिक पदानुक्रम का ढाँचा खड़ा कर दिया। दक्षिण एशिया में औपनिवेशिक/उत्तर-औपनिवेशिक राज्य का आधुनिकता के एकमात्र स्थल और उपकरण के रूप में इसी तरह उभार हुआ। समय की दृष्टि से वह ख़ुद को ज़्यादा उन्नत मानता था और इस बिना पर समकालीनता से दूर खड़े और ऐतिहासिक अवस्थाओं के घालमेल में उलझे समाज का प्रतिनिधि, सुधारक तथा नियामक होने का दम भरता था।

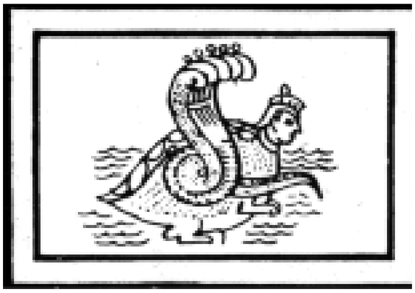

अगर बंकिम के लिए इतिहास का सम्प्रभु प्रतिपाद्य बंगाल या हिंदू राष्ट्र था तो महाराष्ट्र के ज्योतिबा फुले के लिए इतिहास का विषय ऐसे दमित और निम्न-जाति समूह थे जिनके लिए प्राचीन भारत का इतिहास और कुछ नहीं बल्कि आक्रांता आर्यों अर्थात् मौजूदा उच्च जातियों के पूर्वजों के हाथों मिली पराजय की करुण गाथा थी।

अगर दुनिया को आधुनिकता की देन के स्थूल रूप यानी इतिहास में सार्वभौम कालक्रम की प्राण-प्रतिष्ठा की बात की जाए तो वह, जैसा कि ई.पी. थॉमसन आग्रह करते हैं, पूँजीवादी-औद्योगिक उत्पादन प्रणाली के उन्नयन का परिणाम न होकर उपनिवेश में पिछड़े और आधुनिक के बीच भौतिक और वैचारिक पृथक्करण पर आधारित थी। इस प्रक्रिया में आर्थिक और राजनीतिक का पृथक्करण भी शामिल था। दूसरे शब्दों में, औपनिवेशिक इतिहास-धारा से हमें यह पता चलता है कि आधुनिक ऐतिहासिक समय को दुनिया भर में समय के रूप में वर्तमान से दूर खड़े (प्राक्-आधुनिक) समुदायों की नुमाइंदगी के तौर पर गढ़ा गया था। और यह ठीक आधुनिकता के समय में हुआ था।

ऐतिहासिक चिंतन : बदलाव के नक़्श

इस तरह दक्षिण एशिया में इतिहास शुरू में एक बेचैनी से भरा सवाल था। बंकिम ने, जिनका हम पीछे ज़िक्र कर चुके हैं, उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दौर में लोगों का आह्वान किया था कि वे इतिहास-लेखन को एक तात्कालिक राष्ट्रीय कर्तव्य मान कर राष्ट्र, समुदायों और अपने अपने स्थानों का इतिहास लिखने का ज़िम्मा उठाएँ।[10] इस आह्वान का ज़ोर इस बात पर था कि अंग्रेज़ों से इतिहास

---

[10] रणजीत गुहा (1988), *ऐन इण्डियन हिस्टोरिओग्रफ़ी ऑफ़ इण्डिया: अ नाईन्टीन्थ सेंचुरी एजेण्डा ऐंड इट्स इम्पिलिकेशंस,* के.पी. बागची, कलकत्ता; ताराशंकर बनर्जी (सम्पा.)(1987), *हिस्टोरिओग्रॅफ़ी इन मॉडर्न इण्डियन लैंग्वेजिज़, 1880-1947,* नया प्रकाश, कलकत्ता.

17_prathama_Layout 1 5/1/2014 4:59 PM Page 208

अक्षय कुमार मैत्रेय ने 1914 में ... कहा था कि बंकिम की उस मान्यता के दिन लद चुके हैं कि कोई भी व्यक्ति इतिहास लिख सकता है या किसी को भी इतिहास लिखने का अधिकार होना चाहिए। उन्होंने कहा कि अब वक़्त आ चुका है कि इतिहास का एक अकादमिक अनुशासन के रूप पुनराविष्कार किया जाए, उसके नियम और गुणवत्ता के मानक तय किये जाएँ तथा इस अनुशासन की अवधारणाओं की निष्ठा और सत्य को साक्ष्यों की छलनी से छाना जाए।

लिखने का अधिकार छीना जाए क्योंकि औपनिवेशिक इतिहास उपनिवेशितों को हमेशा स्याह रंगों में पेश करता है। इसलिए बंकिम का यह तर्क कि लोगों को अपना इतिहास ख़ुद लिखना चाहिए, असल में इतिहास को बदलने के बहाने इस ख़याल की पेशबंदी करता था कि जनता को अब सम्प्रभु हो जाना चाहिए और अपना प्रतिनिधित्व ख़ुद करना चाहिए। पर इसके बावजूद राष्ट्र में इन तथाकथित मूलवासियों या आदिम समुदायों की मौजूदगी को लेकर ख़ुद बंकिम भी सहज नहीं थे। उन्हें नहीं लगता था कि इन समुदायों की ऐसे सम्प्रभु ऐतिहासिक जनों के रूप में कल्पना की जा सकती है जो अपना इतिहास ख़ुद लिख पाएँ। इन समुदायों को बस उन कथाओं में ही मूर्तिमान किया जा सकता था जो अन्य लोगों ने उनके बारे में लिखी थी। यानी वे एक ऐसी स्थिति में थे कि उनकी नुमाइंदगी दूसरे ही कर सकते थे। इस प्रकार बंकिम के समय में लिखी गयी इतिहास की बहुत सी पाठ्य पुस्तकों में राष्ट्र के भीतर आदिम समुदायों की निशानदेही समय के बजाय इलाक़ाई आधार पर की गयी। भूगोल और इतिहास की ये मिली-जुली पाठ्य पुस्तकें ख़ासतौर पर औपनिवेशिक सत्ता द्वारा स्थापित आधुनिक स्कूलों में पढ़ाने के लिए तैयार की गयी थीं। या कुछ अवसरों पर आदिम समुदायों की नुमाइंदगी समानांतर या काल्पनिक इतिहास के ज़रिये की जाती थी। मसलन, भूदेव मुखोपाध्याय जैसे बंगाली बुद्धिजीवी एक ऐसे संसार की कल्पना करते थे जिसमें ब्राह्मण ज्ञान के बल (न कि वर्ग-शक्ति) पर शासन करते थे तथा दुनिया में उपनिवेशवाद जैसी कोई चीज़ नहीं थी सिवाय भारत के तट से दूर स्थित उन द्वीपों पर जहाँ मूलवासी निवास करते थे।[11]

परंतु बंकिम के इस खुले निमंत्रण ने कि लोग अपना इतिहास स्वयं लिखें, यह समस्या पैदा कर दी कि देश में इतिहास लेखन के क्षेत्र में बाढ़ सी आ गयी और एक ऐसा इतिहास लिखा जाने लगा जिसके रदीफ़ और क़ाफ़िये एक दूसरे को ही काट डालते थे। इस तरह अगर बंकिम के लिए इतिहास का सम्प्रभु प्रतिपाद्य बंगाल या हिंदू राष्ट्र था तो महाराष्ट्र के ज्योतिबा फुले के लिए इतिहास का विषय ऐसे दमित और निम्न-जाति समूह थे जिनके लिए प्राचीन भारत का इतिहास और कुछ नहीं बल्कि आक्रांता आर्यों अर्थात् मौजूदा उच्च जातियों के पूर्वजों के हाथों मिली पराजय की करुण गाथा थी।[12] इस प्रकार दक्षिण एशिया में उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दौर में जब इतिहास अपने पैरों पर खड़ा होना सीख ही रहा था, तभी वह सम्प्रभुता की दावेदारी करने वाले भिन्न-भिन्न समुदायों— दलितों, हिंदुओं, मुसलमानों, तमिलों, मराठा या अलगाववादी आदिवासियों जैसे नगा या लड़ाकू

[11] प्रथमा बनर्जी (2006), अध्याय 1, 'टाइम, स्पेस ऐंड द प्रिमिटिव मैन' : 40-81.

[12] रोजालिण्ड ओ हैनलॉन (1985), *कास्ट, कांफ़्लिक्ट ऐंड आइडियालॅजी : महात्मा ज्योति राव फुले ऐंड लो क़ास्ट प्रोटेस्ट इन नाइंटींथ सेंचुरी वेस्टर्न इण्डिया,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

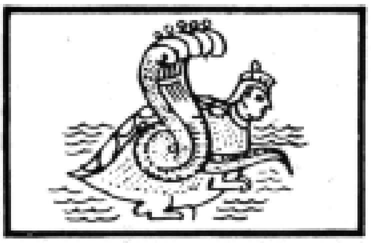

मूलवासियों— संथालों और भीलों की सार्वजनिक और राजनीतिक प्रतिस्पर्द्धा का अखाड़ा बन गया। दूसरे शब्दों में, चूँकि अब इतिहास की बहुरूपताएँ (अनेक पंचांगों की तरह) कल्पना से बाहर हो गयी थीं और इतिहास, निर्माण या लेखन के स्तर पर एक इकहरी चीज़ बन चुका था, इसलिए अब सवाल यह खड़ा हो गया था कि इतिहास का सबसे जायज़ कर्ता या कहें कि उसका संचालक कौन था। अगर बंकिम की सुनें तो क्या इस इतिहास का संचालक बंगाली हिंदू था या शूद्रातिशूद्र था; या अगर ज्योतिबा फुले या भीम राव आम्बेडकर की मानें तो बहुजन अथवा दलित था।[13] आदिवासी (वास्तविक मूलवासी) जिसका राष्ट्र पर दावा करने का हक़ सबसे पहले पड़ता था और ऐसा ही द्रविड़ या तमिल या नगा या फिर संथाल चाहते थे।[14] या फिर इस इतिहास का कर्ता गाँधी के अनुसार किसान और कम्युनिस्टों की नज़र में सर्वहारा था। यह सवाल इलाक़ाई जज़्बे से भी जुड़ा था। मसलन, यह इतिहास राष्ट्र (इण्डिया, भारत, हिंदुस्तान), क्षेत्र (पंजाब, बंगाल, आंध्र), स्थानीयता (मुसलमान बहुल कश्मीर घाटी या उत्तर-पूर्व के आदिवासी बहुल इलाक़े) या भाषा (हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी या तमिल) में किसका था। इस दावेदारी के इर्द-गिर्द कई असहज सवाल उठने लाज़मी थे। मसलन, यह देखते हुए कि इसलाम की भौगोलिकता हमेशा से ग़ैर-राष्ट्रीय मानी जाती थी तो क्या मुसलमानों को भारतीय इतिहास का कर्ता माना जा सकता था या नगा आदिवासी भारतीय इतिहास का अंग थे या कि चीन या दक्षिण-पूर्वी एशियाई इतिहास का विषय थे।

अकादमिक इतिहास तथा लोकप्रिय इतिहास की यह भिड़ंत दक्षिण एशिया में ऐतिहासिक चिंतन को नया आयाम प्रदान करने में ख़ासी सफल रही। हिंदू-मुसलमान तनाव के इतिहासकार ज्ञानेंद्र पाण्डेय इस संदर्भ में एक पते की बात कहते हैं कि लोकप्रिय इतिहास बेशक अकादमिक इतिहास के नियमों की अवमानना करता हो परंतु उसकी प्रभाव-क्षमता के पीछे इतिहास का कोई तत्त्व ज़रूर विद्यमान रहा है।

इसलिए इतिहास को ले कर चल रही इस तुर्श राजनीतिक अखाड़ेबाज़ी के कारण इतिहास के अनुशासन को व्यवस्थित करने की बात बीसवीं सदी की शुरुआत में ही ज़रूरी हो गयी थी। अक्षय कुमार मैत्रेय ने 1914 में बंगाल साहित्य परिषद को सम्बोधित करते हुए दो टूक अंदाज़ में कहा था कि बंकिम की उस मान्यता के दिन लद चुके हैं कि कोई भी व्यक्ति इतिहास लिख सकता है या किसी को भी इतिहास लिखने का अधिकार होना चाहिए। उन्होंने कहा कि अब वक़्त आ चुका है कि इतिहास का एक अकादमिक अनुशासन के रूप पुनराविष्कार किया जाए, उसके नियम और गुणवत्ता के मानक तय किये जाएँ तथा इस अनुशासन की अवधारणाओं की निष्ठा और सत्य को साक्ष्यों की छलनी से छाना जाए। ऐतिहासिक सत्य के अलावा उसके अन्य ज़रूरी पहलुओं— ऐतिहासिक न्याय, बराबरी, लोक-स्मृति, यहाँ तक कि राष्ट्रीय और/या सामुदायिक गौरव को दूसरे नम्बर पर रखा जाए।[15]

---

[13] अनुपमा राव (2009), *द कास्ट क्वेश्चन : दलित्स ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ मॉडर्न इण्डिया,* परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.

[14] आदि प्रत्यय पूर्व या पूर्ववर्ती का सूचक है. निम्न जातियों तथा आदिवासी समुदायों ने उन्नीसवीं सदी के आख़िरी और बीसवीं सदी के शुरुआती वर्षों में स्वयं को ऊँची जातियों से ऐतिहासिक रूप से श्रेष्ठ या प्राथमिक सिद्ध करने अथवा राष्ट्र में अपनी तथाकथित बाहरी स्थिति को ज्ञापित करने के लिए इस पद का इस्तेमाल किया था.

[15] प्रथमा बनर्जी द्वारा उद्धृत (2006) : 210.

17_prathama_Layout 1 5/1/2014 4:59 PM Page 210

दलित इतिहास-लेखन की यह मुहिम बीसवीं सदी की शुरुआत और मध्य में निम्न जातियों के स्वायत्त और बहुरंगी इतिहास के रूप में परवान चढ़ी। बीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में प्रतिरोध की यह जुंबिश दलित नायकों, विद्रोहों और आंदोलनों को अपने लोकप्रिय इतिहास-लेखन के ज़रिये राष्ट्रीय राजनीति के मंच पर स्थापित कर चुकी थी। इस उद्दण्ड क़िस्म के इतिहास-लेखन ने भारतीय इतिहास के कई पूर्व-स्थापित विचारों पर सवाल खड़े किये।

यह बात अनिवार्यतः याद रखी जानी चाहिए कि एक विषय के रूप में इतिहास का पठन-पाठन प्रथम विश्व-युद्ध तक भी स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम का हिस्सा नहीं बना था। आधुनिक और मध्यकालीन इतिहास में स्नातकोत्तर डिग्री की व्यवस्था सबसे पहले कलकत्ता विश्वविद्यालय ने 1919 में शुरू की थी तथा स्नातक स्तर पर इतिहास के अधिकांश विभागों की स्थापना 1920 से 1930 के दशकों में की गयी थी। किंतु एक वैज्ञानिक अनुशासन के रूप में भारत में इतिहास की इब्तिदा, ख़ासतौर पर बंगाल और महाराष्ट्र में, उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दौर में हो चुकी थी। अक्षय कुमार मैत्रेय (1822-1891) को इतिहास के अनुशासन में एक विशिष्ट जर्नल *ऐतिहासिक चित्र* की स्थापना का श्रेय जाता है। मैत्रेय स्वयं एक शौक़िया इतिहासकार थे। उनकी कर्म-भूमि औपनिवेशिक महानगर कलकत्ता नहीं बल्कि उत्तरी बंगाल (अब बांग्लादेश में) का छोटा सा क़स्बा राजशाही था। मैत्रेय के अलावा बंगाल में दिनेशचंद्र सेन (1866-1939), राजेंद्रलाल मित्र (822-1891), राखालदास बंद्योपाध्याय (1885-1930), जदुनाथ सरकार (1870-1958) आदि तथा महाराष्ट्र में वी.के. राजवाड़े (1864-1926), डी.बी.परसनीस (1870-1926), वी.वी. खरे (1858-1924), के.एन. साने (1851-1927), आर.जी. भण्डारकर (1837-1925), जी.एस. सरदेसाई (1865-1959) जैसे उल्लेखनीय इतिहासकार थे। इन इतिहासकारों ने भिन्न-भिन्न तरह के स्रोतों— प्राचीन साहित्य, शिल्प, सिक्कों, लोक-कथाओं से लेकर कहावतों आदि तक का संग्रह और संधान किया।[16] कुछ इतिहासकारों ने जन-स्मृतियों और मौखिक आख्यानों की खोज में एथनॉग्राफ़ी का सहारा भी लिया। परंतु सामग्री की विविधता तथा सांस्थानिक स्वायत्तता के बावजूद इतिहास के ये प्रवर्तक एक अनुशासित और वैज्ञानिक इतिहास के प्रति पूरी तरह समर्पित रहे और इतिहास के इस रूप के प्रचार-प्रसार के लिए लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओं में लिखते हुए साहित्यिक सभाओं के मंचों का इस्तेमाल करते रहे। इतिहास को राजनीतिक कार्रवाई के बजाय शोध का विषय बनाने की बात इन इतिहासकारों के सार्वजनिक व्याख्यानों द्वारा ही पुख़्ता हो रही थी।[17]

दूसरे शब्दों में, दक्षिण एशिया में बीसवीं सदी के आरम्भ से अकादमिक इतिहास और लोकप्रिय-राजनीतिक इतिहास-लेखन के साथ वंचित और मातहत तबक़ों (सबाल्टर्न) का एक ऐसा सिलसिला चल निकला जिसने दक्षिण एशिया में इतिहास के प्रश्न को जीवंत बनाए रखा। यह स्थिति आज भी

---

[16] कुमकुम चटर्जी (2005), 'द किंग ऑफ़ कंट्रोवर्सी : हिस्ट्री ऐंड नेशन-मेकिंग इन लेट कोलोनिअल इण्डिया', *द अमेरिकन हिस्टोरिकल रिव्यू,* 110 (5, दिसम्बर) : 1454-1475.

[17] दीपेश चक्रवर्ती (2008), 'द पब्लिक लाइफ़ ऑफ़ हिस्ट्री : एन आर्गूमेंट आउट ऑफ़ इण्डिया', *पब्लिक कल्चर,* खण्ड 20, अंक 1, शरद : 143-168; यह भी देखें, प्राची देशपाण्डे (2007), *क्रिएटिव पास्ट्स : हिस्ट्री ऐंड मेमॅरी इन वेस्टर्न इण्डिया 1700-1960,* कैलिफ़ोर्निया युनिवर्सिटी प्रेस, न्युयॉर्क.

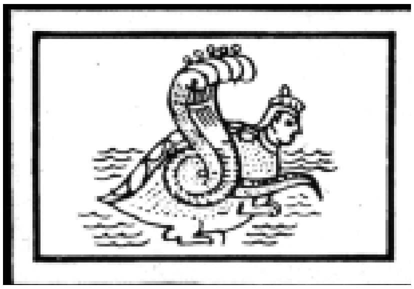

ज़ारी है। जैसा कि हम सब जानते हैं, नवें दशक के दौरान भारत में जब हिंदू दक्षिणपंथ का उत्थान हुआ तो उसके साथ उत्तर भारत में लोकप्रियतावादी हिंदू इतिहास-लेखन की बाढ़ सी आ गयी। इतिहास-लेखन के इस नये सिलसिले ने मुसलमानों की कथित विजय के विरुद्ध (इस राजनीति का एक सबसे विकट परिणाम बाबरी मस्जिद का ध्वंस था जिसके बारे में कथित ऐतिहासिक रूप से यह सिद्ध किया गया था कि उसका निर्माण हिंदुओं के एक प्राचीन मंदिर के अवशेषों पर किया गया था) प्रतिशोध और विद्वेष की एक व्यापक राजनीति को जन्म दिया। उस वक़्त भारत के सेकुलर और अकादमिक इतिहासकारों ने इस साम्प्रदायिक और मनमाने इतिहास का विरोध सच्चे इतिहास और पुरातत्त्व के बेहतर साक्ष्यों के आधार पर किया था।[18] कहना न होगा कि इस अनुशासित इतिहास की दलील का भारत में इतिहास और ऐतिहासिक न्याय के मौजूदा सार्वजनिक विमर्श पर कोई ख़ास असर नहीं पड़ा। परंतु अकादमिक इतिहास तथा लोकप्रिय इतिहास की यह भिड़ंत दक्षिण एशिया में ऐतिहासिक चिंतन को नया आयाम प्रदान करने में ख़ासी सफल रही। हिंदू-मुसलमान तनाव के इतिहासकार ज्ञानेंद्र पाण्डेय इस संदर्भ में एक पते की बात कहते हैं कि लोकप्रिय इतिहास बेशक अकादमिक इतिहास के नियमों की अवमानना करता हो परंतु उसकी प्रभाव-क्षमता के पीछे इतिहास का कोई तत्त्व ज़रूर विद्यमान रहा है।[19] दूसरे शब्दों में, अकादमिक और लोकप्रिय इतिहास के इस विवाद ने इतिहास के विचार पर दोबारा सवाल खड़े कर दिये। इसके बाद इतिहास को मिथक और वस्तुनिष्ठ इतिहास को दुर्भावना से प्रेरित इतिहास के बरअक्स खड़ा करना नाकाफ़ी हो गया। दक्षिण एशिया में इतिहास के लोकतंत्रीकरण तथा बहुवचनीयता ने वैज्ञानिक इतिहास की कल्पना को साँसत में डाल दिया।

राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी ... वैज्ञानिक इतिहास में समान रूप से यक़ीन रखते थे। ... ऐतिहासिक सामग्री की भिन्नताओं के बावजूद साक्ष्यों की विवेचना-पद्धति और सत्य की प्रकृति को लेकर उनके दावे हमशक्ल हो जाते थे। ... दोनों ख़ेमों के इतिहासकार अक्सर अपने इच्छित प्रयोजन के लिए स्त्रोतों में कतर-ब्योंत कर डालते थे और इन स्त्रोतों के केवल उन्हीं हिस्सों का इस्तेमाल करते थे जो उनके मक़सद में फ़िट बैठते थे और इस तरह ऐतिहासिक सामग्री के जटिल स्वरों का गला घोंट देते थे।

नौवाँ दशक भारतीय लोकतंत्र में रैडिकल तेवरों का काल माना जाता है। इस दौरान निम्न जातियों तथा दलितों की चुनाव, संस्कृति और समाज में ज़बरदस्त लामबंदी हुई। इस लामबंदी ने पेशेवर परिसरों और कक्षाओं को जाति, वर्ग, जेण्डर तथा भाषाई राजनीति का अखाड़ा बनाकर भारतीय संस्थाओं और अकादमिक परिपाटियों को सिरे से बदल डाला। बौद्धिक और अकादमिक व्यवहार की जिस शुद्धता को उदारतावादी मानक की तरह देखते थे, वह संकट में फँस गयी। राजनीति के इस हालिया क्षण के कारण लोगों का ध्यान दलितों के उस प्रतिरोधी इतिहास-लेखन

[18] एस. गोपाल (सम्पा.) (1991), *द एनॉटॅमी ऑफ़ कंफ्रंटेशन : द राइज़ ऑफ़ कम्युनल पॉलिटिक्स इन इण्डिया,* पेंगुइन, नयी दिल्ली. ख़ास तौर पर रोमिला थापर, 'अ हिस्टोरिकल पर्सपेक्टिव ऑन द स्टोरी ऑफ़ रामा' : 141-163 तथा नीलाद्री भट्टाचार्य, 'मिथ, हिस्ट्री ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ रामजन्म भूमि' : 122-140 देखें.

[19] ज्ञानेंद्र पाण्डेय (1994), 'मोड ऑफ़ हिस्ट्री-राइटिंग : न्यू हिंदू हिस्ट्री ऑफ़ अयोध्या', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 29, अंक 25 : 1523-1528.

17_prathama_Layout 1 5/1/2014 4:59 PM Page 212

की ओर गया जो पश्चिमी भारत में उन्नीसवीं सदी के आख़िरी दौर में ज्योतिराव फुले की सदारत में शुरू हो चुका था। दलित इतिहास-लेखन की यह मुहिम बीसवीं सदी की शुरुआत और मध्य में निम्न जातियों के स्वायत्त और बहुरंगी इतिहास के रूप में परवान चढ़ी। बीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में प्रतिरोध की यह जुंबिश दलित नायकों, विद्रोहों और आंदोलनों को अपने लोकप्रिय इतिहास-लेखन के ज़रिये राष्ट्रीय राजनीति के मंच पर स्थापित कर चुकी थी।[20]

सबाल्टर्न परियोजना काफ़ी हद तक इतिहास की एक ऐसी परियोजना थी जिसका ध्येय इतिहास के कर्त्ता— भारत के संदर्भ में मुख्यतः किसान को, उसकी इयत्ता लौटाना था। लेकिन सबाल्टर्न की श्रेणी को कोई तराशा रूप न देकर (मातहत समुदाय वर्ग, जाति, जेण्डर, धार्मिक या जातीय में कुछ भी हो सकते थे) इन इतिहासकारों ने इतिहास के कर्ता को एक ऐसी बहुविकल्पीय चीज़ बना दिया जिसका मौक़े के हिसाब से कोई भी इस्तेमाल किया जा सकता था।

इस उद्दण्ड क़िस्म के इतिहास-लेखन ने भारतीय इतिहास के कई पूर्व-स्थापित विचारों पर सवाल खड़े किये। इसने क्लासिकल भारत की केंद्रीयता नकारते हुए और पूर्व-वैदिक के साथ परवर्ती बौद्ध काल का महत्त्व रेखांकित करके इतिहास में रूढ़ हो चले कालक्रम या कालावधि की मानक रूपरेखा को भी प्रश्नांकित किया। इस इतिहास-लेखन की एक धारा ने औपनिवेशिक शासन को केवल बुराई मानने से इनकार करते हुए यह तर्क रखा कि ब्राह्मणवादी सामाजिक पितृसत्ता से भिन्न होने के कारण औपनिवेशिक शासन दक्षिण एशिया में निम्न जातियों के लिए मुक्ति की सम्भावनाएँ कर आया था। इसके कुछ पैरोकारों की दलील यह भी थी कि 1947 में हासिल राष्ट्रीय आज़ादी भारत के दलितों के लिए सही मायने में स्वतंत्रता थी ही नहीं, क्योंकि दलित इस आज़ादी के बाद भी दमन का शिकार बने रहे। कुछ विद्वान इस क्षण को दक्षिण एशिया में एक नयी उत्तर-राष्ट्रीय अवस्था का सूत्रपात मानते हैं जो राष्ट्र और राष्ट्रीय इतिहास की दलित प्रत्यालोचना के कारण और भी शिद्दत से निथर कर सामने आयी है।[21] कई अन्य विद्वान इसे एक ऐसा क्षण मानते हैं जिसने इतिहास के अनुशासन को अपने हरबे-हथियारों पर पुनर्चिंतन करने के लिए मजबूर कर दिया है। कई दलित चिंतक वस्तुनिष्ठ इतिहास की मुख़ालिफ़त करते हुए दलितों के अनुभव और जीवन पर केंद्रित प्रतिबद्ध इतिहास का इसरार करते हैं। इसके साथ वे अनुभववाद और यथार्थवाद की क़ैद से भी बचना चाहते हैं और एक सार्वभौम व सैद्धांतिक इयत्ता की दावेदारी भी करते हैं।[22] दूसरे शब्दों में कहें तो अगर हिंदुओं के लोकप्रिय इतिहास-लेखन ने दक्षिण एशिया में मुसलमान विरोधी हिंसा को जन्म दिया था, तो दलित इतिहास-

---

[20] बद्री नारायण (2011), 'द मेकिंग ऑफ़ दलित पब्लिक इन नॉर्थ इण्डिया : उत्तर प्रदेश, 1950- प्रज़ेंट', ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

[21] आदित्य निगम(2010), *आफ़्टर यूटोपिया : मॉडर्निटी, सोशलिज़्म ऐंड द पोस्ट-कॉलोनी,* वीवा बुक्स, नयी दिल्ली. देखें, अध्याय 'एम्पायर, नेशन ऐंड मायनॉरिटी कल्चर्स : द पोस्ट-नैशनल मूमेंट' : 127-145.

[22] के. सत्यनारायण तथा सूसी थारू (2011), *नो एल्फ़ाबेट इन साइट : न्यू दलित राइटिंग फ्रॉम साउथ इण्डिया,* डॉज़ियर 1, तमिल ऐंड मलयालम, पेंग्विन, दिल्ली; गोपाल गुरु (2002), 'हाउ इगैलिटेरिअन आर द सोशल साइंसेज़ इन इण्डिया', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 37, अंक 50, एस.वी. राजादुरई और वी. गीता (1998), *टुवर्ड्स अ नॉन-ब्राह्मण मिलेनियम : फ्रॉम इयोथी दास टू पेरियार,* साम्य, कलकत्ता.

17_prathama_Layout 1 5/1/2014 4:59 PM Page 213

लेखन ने संरचनात्मक हिंसा की एक सार्वभौम आलोचना पेश की जिसने अकादमिक इतिहासकारों के इस यक़ीन को हिला दिया कि अनुशासित और अनुशासनगत इतिहास अपनी प्रकृति से ही सच्चा, नैतिक और न्यायोचित होता है।

अकादमिक जगत में ऐतिहासिक चिंतन के लोकतंत्रीकरण की यह प्रक्रिया दो सूत्रों के सहारे आगे बढ़ी है। इनमें एक सूत्र इतिहास-लेखन की अनुशासनगत कसौटियों और नियमों की पुनसर्मीक्षा में रूपायित हुआ है तो दूसरा सूत्र इतिहास को आधुनिक ज्ञानशास्त्र के एक रूप में उसकी नख-शिख आलोचना पर ज़ोर देता है। दक्षिण एशिया में अगर बीसवीं सदी का चौथा और पाँचवाँ दशक इतिहास के अनुशासन की प्रसव-पीड़ा को ज्ञापित करता है, तो साठ और सत्तर के दशक भारतीय इतिहास के प्रतिष्ठान में राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी इतिहासकारों के बीच प्रचण्ड बहस के नाम रहे। यह बहस इस सवाल को लेकर थी कि इतिहास का कर्ता कौन है— राष्ट्र की इकाई या अलग अलग वर्गों में विभक्त जन जैसे किसान या कामगार। मार्क्सवादी ख़ेमा इस बात पर ज़ोर दे रहा था कि राष्ट्रवादी इतिहास अपनी बनावट में ही अभिजनमूलक, और मध्यवर्गीय था जो साधारण लोगों को अपने दरवाज़े से बाहर रखता था। जबकि राष्ट्रवादी इतिहासकारों की दलील थी कि मार्क्सवादी इतिहास औपिनवेशिक और राष्ट्रीय के बीच अंतर नहीं देखना चाहता इसलिए वह एक सार्वभौम और अर्द्ध-युरोपीय इतिहास बन जाता है। परंतु सतह पर दिखाई देने वाले इस अंतर के बावजूद राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी दोनों ही इतिहासकार वैज्ञानिक इतिहास में समान रूप से यक़ीन रखते थे। इसका तात्पर्य यह था कि ऐतिहासिक सामग्री की भिन्नताओं के बावजूद उनकी (और ऐसा हमेशा नहीं होता था) साक्ष्यों की विवेचना-पद्धति और सत्य की प्रकृति को लेकर उनके दावे हमशक्ल हो जाते थे। इसका अभिप्राय था कि दोनों ख़ेमों के इतिहासकार अक्सर अपने इच्छित प्रयोजन के लिए स्रोतों में कतर-ब्योंत कर डालते थे और इन स्रोतों के केवल उन्हीं हिस्सों का इस्तेमाल करते थे जो उनके मक़सद में फ़िट बैठते थे और इस तरह ऐतिहासिक सामग्री के जटिल स्वरों का गला घोंट देते थे। इतिहास-लेखन के दोनों ही शिविर अक्सर उन लघु, मातहत और/या खोई हुई आवाज़ों को नहीं चिह्न पाते थे जो सुबूत की मुंसिफ़ाना कसौटियों का पालन नहीं करती थीं। इससे भी ज़्यादा अहम बात यह है कि दोनों तरह के इतिहासकार संक्रमण का वृत्तांत लिखते थे। राष्ट्रवादी इतिहासकारों की दिलचस्पी आधुनिकीकरण और सेकुलरीकरण के वृत्तांत में थी जिसके कारण उनका राष्ट्र हमेशा विश्व में एक गौरवपूर्ण स्थान के लिए क़वायद करता दिखाई देता था। जबकि मार्क्सवादियों का वृत्तांत उत्पादन प्रणालियों के रूपांतरण पर केंद्रित रहता था जो राष्ट्र को अनिवार्य रूप से पूँजीवाद और तदनंतर समाजवाद की ओर अग्रसर करता रहता था। ऐसी कोई भी ऐतिहासिक सामग्री जो संक्रमण की इस कथा में समायोजित नहीं हो पाती थी उसे ख़ारिज कर दिया जाता था।

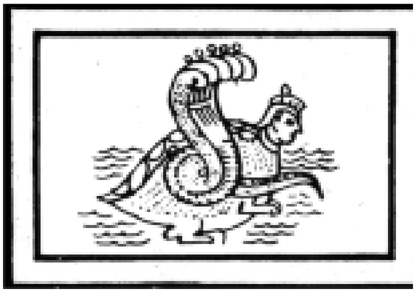

सबाल्टर्न अध्ययन की यह मुहिम उस समय गतिरोध का शिकार होने लगी जब यह स्पष्ट हुआ कि तमाम रैडिकल तेवरों और बदलावों के बावजूद इतिहास केवल एक अल्पसंख्यक इतिहास को ही जगह दे पाया था और उसके दायरे से मातहतों का अतीत बाहर रह गया था। इस विसंगति की ओर दीपेश चक्रवर्ती ने ध्यान आकृष्ट किया ...। दीपेश का तर्क था कि सेकुलर इतिहास-लेखन समय की निश्चित आधुनिक संकल्पना पर टिका था जो कालवाचिकता की ग़ैर-सेकुलर प्रणालियों को स्वीकार नहीं करती थी।

इतिहास की इस इक़्तेदारी में बहुमुखी और साझी पहचान सम्भव ही नहीं थी और न इसमें अतीत की त्रासद स्मृतियों को बिसराना सम्भव था। इसलिए इसके अंतर्गत उपचार की प्रक्रिया शुरू करना नामुमकिन था। इतिहास ने स्मृति को संचित करने तथा अतीत को व्यक्त करने के ग़ैर-औपनिवेशिक व ग़ैर-आधुनिक तरीक़ों— मिथक, महाकाव्य, गाथाओं आदि का भी दमन किया और इस लिहाज़ से दुनिया के एक बड़े हिस्से को बदलते समय की कथा से वंचित कर दिया।

लेकिन आठवें दशक के दौरान रणजीत गुहा के नेतृत्व में दक्षिण एशियाई इतिहासकारों ने मातहत वर्गों के इतिहास को राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी रूढ़ियों से मुक्त करने के लिए एक अध्ययन-समूह का गठन किया। इन इतिहासकारों की दलील थी कि मार्क्सवादी इतिहासकार भी इस सत्य को स्वीकार नहीं करते कि मातहती के बावजूद ये वर्ग राजनीतिक इयत्ता और चेतना से लैस थे और उन्होंने अपने एक ख़ास अंदाज़ में इतिहास का निर्माण किया था। मार्क्सवादियों ने किसानों और सर्वहारा को संक्रमण की एक पूर्वनिर्धारित कहानी का पात्र बना दिया था और इस लिहाज़ से उनका रवैया काफ़ी हद तक उन अभिजनमूलक राष्ट्रवादियों की तरह ही था जो मातहत वर्गों को हमेशा बस कुछ सिखाने की मुद्रा में रहते थे। उनकी तरफ़दारी का दावा करने के बावजूद मार्क्सवादी उन्हें ग़लत ढंग से चित्रित करते थे। वे मातहत वर्गों को प्राक्-राजनीतिक, ग़ैर-सेकुलर, क्रांति की समझ से महरूम मानते थे और उन्हें लगता था कि इन वर्गों को चेतना-सम्पन्न बनाने के लिए वैज्ञानिक ज्ञान से लैस एक शिक्षित हरावल की दरकार होती है। सबाल्टर्न इतिहासकारों ने मातहत वर्गों की चेतना और व्यवहार की स्वायत्तता को एक तरह से पुनर्स्थापित करने का काम किया।[23] इस तरह देखें तो शुरू में सबाल्टर्न परियोजना काफ़ी हद तक इतिहास की एक ऐसी परियोजना थी जिसका ध्येय इतिहास के कर्त्ता— भारत के संदर्भ में मुख्यत: किसान को, उसकी इयत्ता लौटाना था। लेकिन सबाल्टर्न की श्रेणी को कोई तराशा रूप न देकर (मातहत समुदाय वर्ग, जाति, जेण्डर, धार्मिक या जातीय में कुछ भी हो सकते थे) इन इतिहासकारों ने इतिहास के कर्ता को एक ऐसी बहुविकल्पीय चीज़ बना दिया जिसका मौक़े के हिसाब से कोई भी इस्तेमाल किया जा सकता था। परंतु, मातहत वर्गों को एक बार दुनिया के निर्माण और इतिहास का कर्ता स्वीकार करने के बाद वह ऐतिहासिक साक्ष्य और विवेचना का प्रश्न केंद्रीय बन गया और इस तरह कर्ता का प्रश्न ख़ुद इतिहास का प्रश्न बन गया। (इस प्रस्थापनागत बदलाव की उन कट्टर मार्क्सवादी इतिहासकारों ने जम कर लानत-मलामत की जो कर्ता के प्रश्न को ज़्यादा तरजीह देते थे।)[24]

स्पष्ट था कि इतिहास के पारम्परिक स्रोत जैसे औपनिवेशिक अभिलेखीय दस्तावेज़ सबाल्टर्न इतिहास के पक्ष में कोई साक्ष्य पेश नहीं करते थे। यह स्थिति केवल अभिलेखों के अभिजनमूलक होने के कारण पैदा नहीं हुई थी बल्कि ऐसा इसलिए भी था क्योंकि इन दस्तावेज़ों में सबाल्टर्न वर्गों की मौजूदगी को व्यवस्थित ढंग से मिटाया या विद्रूपित किया गया था। लिहाज़ा इससे ऐतिहासिक

---

[23] रणजीत गुहा (1982), 'ऑन सम आस्पेक्ट्स ऑफ़ द हिस्टोरिओग्रॅफ़ी ऑफ़ कोलोनिअल इण्डिया', *सबाल्टर्न स्टडीज़ 1*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली : 1-8.

[24] सुमित सरकार (2000), *द डिक्लाइन ऑफ़ सबाल्टर्न इन सबाल्टर्न स्टडीज़*, विनायक चतुर्वेदी (सम्पा.), *मैपिंग सबाल्टर्न स्टडीज़ ऐंड द पोस्ट-कोलोनिअल*, वर्सो, लंदन : 300-323.

साक्ष्य, तथ्यपरकता तथा सत्य का पूरा मुद्दा ही सवालों के घेरे में आ गया था। राज्य के अभिलेखागारों, पुरातत्त्व के स्मारकों तथा लिखित व मुद्रित सामग्री, जिन्हें अभी तक संदेह से परे माना जाता था, की सीमाएँ उजागर हो गयीं। वे सारी प्रक्रियाएँ जिनसे गुज़र कर जानकारियाँ तथ्य बनती थीं, दस्तावेज़ों का निर्माण किया जाता था और स्मारक बहुपरती अर्थ ग्रहण करते थे, अब ख़ुद इतिहास के मुख्य आख्यान का अंग बन गयीं तथा पाद-टिप्पणियों, परिशिष्टों व नेपथ्य के अन्य तकनीकी ब्योरों से आलोकित होकर सामने आने लगीं। इतिहास के अनुशासनगत नियमों की इस पुनर्समीक्षा के महती बिंदु वे थे जब रणजीत गुहा ने औपनिवेशिक दस्तावेज़ों को प्रति-विद्रोह का गद्य क़रार दिया (जो मातहत वर्गों के विद्रोही की एक विपरीत पेश करते थे) और गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक ने यह रेटरिकल सवाल पूछा कि कैन सबाल्टर्न स्पीक (जिसका अभिप्राय यह था कि क्या मातहत वर्ग इतिहास के मंच पर अपनी बात इतिहासकार के ज़रिये न कहकर ख़ुद भी बयान कर सकते हैं)।[25] इस क्रम में ऐतिहासिक चिंतन अन्य अनुशासनों, जैसे सामाजिक मानवशास्त्र में प्रयुक्त फ़ील्ड एथनॉग्रॉफ़ी (जिससे इतिहासकारों को वर्तमान तक चले आ रहे इतिहास को लिखने में मदद मिलने लगी), साहित्य-समीक्षा (जिससे उन्हें प्रकट अर्थों के बजाय स्रोतों की महीन समीक्षा करने में मदद मिली) तथा इतिहास के परिवर्तित दर्शन (जिससे उनके लिए निपट अनुभववाद और संक्रमण के बृहत आख्यानों से मुक्त होना सम्भव हुआ) की ओर देखने लगे। बाद के कुछ इतिहासकारों ने, जो यूँ तो सबाल्टर्न आंदोलन से प्रभावित थे परंतु औपचारिक रूप से उसका हिस्सा नहीं थे, लोकप्रिय आख़्यानों को इतिहासकार की कथा के साथ गूँथ कर उसे ऐतिहासिक पाठ में जगह देने का भी प्रयत्न किया।[26] इन इतिहासकारों ने अपनी सृजनात्मकता से इतिहास-लेखन के पाठाधारित प्रारूप को ही बदल डाला।

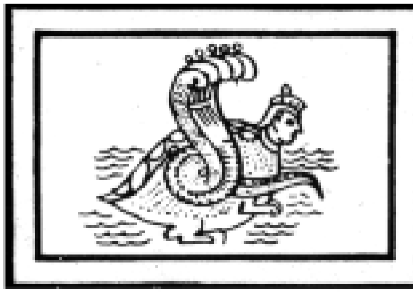

आज इतिहास-लेखन के संदर्भ में केवल इलाक़ाई बनावट पर ही पुनर्विचार नहीं किया जा रहा है, बल्कि कालावधि और कालवाचिकता पर भी सवाल पूछे जा रहे हैं। दक्षिण एशिया में एक लम्बे अरसे तक इतिहास में कालावधि का ढाँचा प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक काल जैसी सार्वभौम श्रेणियों में फँसा रहा।

परंतु सबाल्टर्न अध्ययन की यह मुहिम उस समय गतिरोध का शिकार होने लगी जब यह स्पष्ट हुआ कि तमाम रैडिकल तेवरों और बदलावों के बावजूद इतिहास केवल एक अल्पसंख्यक इतिहास को ही जगह दे पाया था और उसके दायरे से मातहतों का अतीत बाहर रह गया था। इस विसंगति की ओर दीपेश चक्रवर्ती ने ध्यान आकृष्ट किया था, जिन्हें सबाल्टर्न अध्ययन समूह के संस्थापक सदस्यों में शामिल किया जाता है। दीपेश का तर्क था कि सेकुलर इतिहास-लेखन समय की निश्चित आधुनिक

---

[25] रणजीत गुहा (1983), 'द प्रोज़ ऑफ़ काउंटर इन्सर्जेंसी', *सबाल्टर्न स्टडीज़ 2*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली : 1-42; गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक (1988), 'कैन द सबाल्टर्न स्पीक', *मार्क्सिज़्म ऐंड द इंटरप्रिटेशन ऑफ़ कल्चर*, इलिनॉय युनिवर्सिटी प्रेस, इलिनॉय : 271-313.

[26] अजय स्कारिया (1998), *हायब्रिड हिस्ट्रीज़ : फॉरेस्ट, फ्रंटियर्स ऐंड वाइल्डरनेस इन वेस्टर्न इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली; विनायक चतुर्वेदी (2007) *पेजेंट्स पास्ट्स: हिस्ट्री ऐंड मेमॅरी इन वेस्टर्न इण्डिया,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया, बर्कले.

[27] दीपेश चक्रवर्ती (1998), 'मायनॉरिटी हिस्ट्रीज़, सबाल्टर्न पास्ट्स', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 33, अंक 9 : 473-479

संकल्पना पर टिका था जो कालवाचिकता की ग़ैर-सेकुलर प्रणालियों को स्वीकार नहीं करती थी।[27] यह तो एक अर्थ में प्रस्थान के उसी बिंदु पर पहुँच जाना था जहाँ से बात का सिलसिला शुरू हुआ था। लिहाज़ा इसमें अचरज जैसा कुछ भी नहीं है कि दीपेश को अल्पसंख्यक इतिहास का तोड़ यानी मातहतों का इतिहास आदिम संथालों द्वारा 1855 में की गयी बग़ावत में नज़र आया जिसमें संथालों ने औपनिवेशिक राज्य तथा बंगाली महाजनों के ख़िलाफ़ अपने सपनों और देवी-देवताओं का इस्तेमाल किया था। अपने बयानों में संथालों ने कारण और कालक्रमिकता की उस वैचारिक ज़मीन को ही चुनौती दे डाली थी जिसे रैखिक ऐतिहासिक समय की आधार-भूमि माना जाता था।[28] यह एक दिलचस्प संयोग है कि 1983 में जब रणजीत गुहा ने भी अपनी रचना *ऐलिमेंटरी आस्पेक्ट्स ऑफ़ पेजेंट इनसर्जेंसी* में, जिसे एक तरह से सबाल्टर्न अध्ययन का उत्स माना जाता है, संथाल विद्रोह को एक ऐसे परिप्रेक्ष्य के रूप में चिह्नित किया था जिसे मार्क्सवादी इतिहास क़ायदे से समझ ही नहीं पाया था। दूसरे शब्दों में, उन्नीसवीं सदी के आख़िरी वर्षों की तरह यह आदिम इयत्ता बीसवीं सदी में भी इतिहास के अनुशासन के सामने सबसे मुँहज़ोर ताक़त की तरह आकर खड़ी हो गयी थी।

इतिहास और उसकी सीमाएँ

एक बार जब इतिहास की सीमाओं को स्वीकार कर लिया गया तो सत्ता मीमांसा के एक आधुनिक रूप के तौर पर इतिहास की विस्तृत आलोचना एक हाथ की दूरी पर रह गयी। विश्व के हेगेलवादी इतिहास की उत्तर-औपनिवेशिक व सबाल्टर्न परिप्रेक्ष्य से पड़ताल करते हुए रणजीत गुहा रवींद्रनाथ ठाकुर की ओर गये और उन्हें दक्षिण एशिया में सबसे शुरुआती और मुखर आलोचक पाया। इस आधार पर गुहा ने यह भी कहा कि उपनिवेश में इतिहास का उदय और उसका आलोचनाशास्त्र लगभग एक ही साथ विकसित हुए थे।[29]

एक स्तर पर रवींद्रनाथ ऐतिहासिकता (इतिहास के बजाय) को एक नया रस कहते थे जो व्यक्ति के अंदर एक ऐसे क्षण में उपजता है जब निजी जीवन स्वयं को समय के युगांतरकारी परिवर्तनों की संधि-रेखा पर खड़ा पाता है। इस प्रकार रवींद्रनाथ समय के प्रवाह में इतिहास को ज्ञान के एक रूप के बजाय इयत्ता के रुझान में पुनर्विन्यस्त करते थे।[30] एक अन्य स्तर पर वे पाण्डित्यपूर्ण इतिहास को राज्यवादी तथा राजनीति से प्रेरित मानते थे और उसकी यह कहकर आलोचना करते थे कि ज्ञान-मीमांसा के रूप में इतिहास एक ऐसी अधिग्रहणवादी विधा है जो आम जनता के दैनिक दुख-सुख को व्यवस्थित ढंग से दरकिनार कर देती है। रवींद्रनाथ साहित्य और कविता को ज़्यादा लोकतांत्रिक मानते थे क्योंकि ऐसी विधाएँ न केवल साधारण जीवन और रोज़मर्रा के समय के प्रति ज़्यादा निष्ठावान होती हैं बल्कि ज्ञान के शास्त्र और तथ्यात्मकता से आक्रांत भी नहीं होती।[31] इतिहास के प्रति टैगोर के इस संशय को देखते हुए यह आश्चर्यजनक नहीं लगता कि बाद में वे ठीक उसी दौर में राष्ट्रवाद के सबसे दुर्धर्ष आलोचक के रूप में सामने आये जब दक्षिण एशिया में राष्ट्रीय आंदोलन अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुका था।

रवींद्रनाथ की भाँति समाज-मनोविद् आशिस नंदी भी इतिहास और राष्ट्रवाद की बहिष्करण पर आधारित, असहिष्णु और हिंसक प्रकृति के बीच एक सीधा संबंध देखते हैं। नंदी यह तर्क देते हैं कि राष्ट्रवाद, साम्प्रदायिकता तथा क्षोभ पर आधारित अन्य तरह की राजनीति इसलिए सम्भव हो पाई क्योंकि

---

[28] प्रथमा बनर्जी (2006), अध्याय 4 : 'रिबेलियन : एक्ट ऑर इवेंट' : 158-195.

[29] रणजीत गुहा (2002) (सम्पा.), *हिस्ट्री एट द लिमिट ऑफ़ वर्ल्ड हिस्ट्री*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

[30] प्रथमा बनर्जी (2011), 'द अनटाइमली टैगोर', *सेमिनार : द नेशन ऐंड इट्स पोयट*, जुलाई, http://www.india-seminar.com/2011/623.htm (सितंबर, 2013 को पढ़ा गया).

[31] रवींद्रनाथ ठाकुर (1941), 'हिस्टोरिकलिटी इन लिटरेचर', रणजित गुहा (सम्पा.), *हिस्ट्री एट द लिमिट* : 95-100.

इतिहास समय की कल्पना पर हावी होकर और ज्ञान का एक प्रकार बनकर एक निपट निरंकुश व्यक्ति का निर्माण कर देता है। इतिहास की इस इक़्तेदारी में बहुमुखी और साझी पहचान सम्भव ही नहीं थी और न उसमें अतीत की त्रासद स्मृतियों को बिसराना सम्भव था। इसलिए इसके अंतर्गत उपचार की प्रक्रिया को शुरू करना नामुमकिन था।[32] इतिहास ने स्मृति को संचित करने तथा अतीत को व्यक्त करने के ग़ैर-औपनिवेशिक व ग़ैर-आधुनिक तरीक़ों— मिथक, महाकाव्य, गाथाओं आदि का भी दमन किया और इस लिहाज़ से दुनिया के एक बड़े हिस्से को बदलते समय की कथा से वंचित कर दिया।

इतिहास की आलोचना दलित आत्मकथा लेखकों की तरफ़ से भी आयी जिनकी प्रकारांतर से दलील यह थी कि इतिहास के बजाय जीवन की कथा लिखना दमन और बहिष्करण की परिस्थितियों को ज़्यादा बेहतर ढंग से व्यक्त करता है। आत्मकथा लेखक गुस्से, भावावेग, चुप्पी आदि जैसे गहन मनोभावों को ज़्यादा प्रमुखता से प्रस्तुत करते हैं। इन भावों के बिना दलितों की आधुनिक इयत्ता पेश नहीं की जा सकती थी।[33] मूल वासियों के मौखिक आख्यानों का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने भी इतिहास में अतीत-वर्तमान के संबंधों की व्यवस्था को प्रश्नांकित किया है क्योंकि उनके अनुसार निरंतरता, कारण तथा कालक्रमिकता की इतिहासवादी धारणाएँ अतीत-वर्तमान के संबंधों में निहित विच्छेद तथा व्यवधान के वास्तविक अनुभवों को प्रत्यक्ष ही नहीं कर पाती।[34] (यह दक्षिण एशिया के विस्थापित और शोषित समुदायों के प्रसंग में देखा जा सकता है।)

लेकिन पिछले दिनों हुई इतिहास की इस चौतरफ़ा प्रत्यालोचना ने दक्षिण एशिया में ऐतिहासिक आख्यानों को एक नयी वैधता भी प्रदान की है। इस संदर्भ में कुछ विद्वान इतिहास में राष्ट्र के वर्चस्व की जगह वैश्विक और/या संबद्ध इतिहास लाने का आग्रह करते हैं। उनकी दलील है कि इतिहास के प्रत्येक प्रकार में राष्ट्र उसका केंद्रीय विषय नहीं रहा है। उनका कहना है कि यह ग़लत धारणा राष्ट्रवाद की विचारधारा के साथ-साथ राष्ट्रीय अभिलेखागारों और संग्रहालयों जैसी राजकीय संस्थाओं की वर्चस्वकारी उपस्थिति के कारण पैदा हुई है। इन विद्वानों का तर्क है कि बदलते समय की एक कथा के तौर पर इतिहास वास्तव में राष्ट्रीय सीमाओं की अवहेलना करते हुए लोगों, विचारों, पूँजी तथा वस्तुओं आदि के प्रसार और उनकी आपसी आवाजाही से गुंजित रहा है। इस संस्करण में इतिहास को लाज़मी तौर पर किसी राज्य, राष्ट्र, समुदाय, वर्ग या इतिहास का निर्माण करने वाले अकेले कर्ता का इतिहास नहीं माना जाता। यह दृष्टि इतिहास को अतीत के बारे में लिखने की एक विधा भर मानती है। इतिहास के प्रतिपाद्य या उसके पात्र से जुड़े प्रश्न और इस नाते कर्तृत्व तथा प्रामाणिकता के प्रश्न भी केवल दूसरे नम्बर पर नहीं आ जाते, बल्कि कई बार तो उन्हें मूल से प्रेरित या उस पर निर्भर प्रश्न मान लिया जाता है।

इनमें से कई इतिहासकार इस बात पर ज़ोर देते हैं कि ऐतिहासिक कल्पना का धरातल पुन:व्यवस्थित किया जाना चाहिए। इनमें कुछ इतिहासकार प्राक्-औपनिवेशिक काल पर काम करते हैं। इस अवधि में राष्ट्रीयता जैसी कोई बात विद्यमान नहीं थी। कुछ साम्राज्य, पूँजी, जलवायु और पर्यावरण जैसी वैश्विक संरचनाओं पर अनुसंधान करते हैं। कुछ इतिहासकार विचारों के क्षेत्र में काम करते हुए दलील पेश करते हैं कि अपनी प्रकृति के कारण विचारों को राष्ट्रीय सीमाओं में नहीं बाँधा

---

[32] आशिस नंदी (1995), 'हिस्ट्रीज़ फ़ॉरगोटन डबल्स', *हिस्ट्री ऐंड थियरी,* 34 (2,मई) : 44-66; विनय लाल (2003), *द हिस्ट्री ऑफ़ हिस्ट्री : पॉलिटिक्स ऐंड स्कॉलरशिप इन मॉडर्न इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

[33] शर्मिला रेगे (2006), *राइटिंग कास्ट, राइटिंग जेण्डर : दलित वुमॅन टेस्टिमॅनीज़,* जुबान, नयी दिल्ली.

[34] प्रथमा बनर्जी (2006), *पॉलिटिक्स ऑफ़ टाइम : प्रिमिटिव ऐंड हिस्ट्री-राइटिंग इन अ कोलोनिअल सोसाइटी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 175-188.

जा सकता।[35] हालाँकि दक्षिण एशिया के अधिकांश इतिहासकार इतिहास के वि-राष्ट्रीयकरण तथा उसके धरातल को पुन: व्यवस्थित किये जाने के पक्ष में हैं, परंतु कुछ मसलों को लेकर उनके बीच कई असहमतियाँ भी हैं। इनमें अगर कुछ वैश्विकता और सार्वदेशिकता की बात करते हैं तो कुछ अन्य विचारों या पूँजी की एकसार वैश्विकता अपनाने से परहेज़ करते हैं। कुछ इतिहासकार इस बात पर ज़ोर देते हैं कि साम्राज्य को एक ऐसे इलाक़ाई और मानसिक स्पेस की तरह देखा जाना चाहिए जो समय के साथ परिवर्तित होता जाता है, जबकि कुछ अन्य इतिहासकार महाद्वीप (जैसे एशिया) या क्षेत्रों (जैसे हिंद महासागरीय पट्टी) को ज़्यादा गम्भीरता से देखना चाहते हैं ताकि मौजूदा दौर के भू-राजनीतिक इलाक़ों की धारणा अस्थिर की जा सके। इतिहासकारों का एक समूह ऐसा भी है जो वर्नाक्युलर इतिहास की बहाली पर ज़ोर देते हैं क्योंकि उनके मुताबिक़ इतिहास के राष्ट्रीय या वैश्विक प्रतिमान में ऐसा इतिहास कहीं गुम हो जाता है।

दक्षिण एशिया में आज इतिहास-लेखन के संदर्भ में केवल इलाक़ाई बनावट पर ही पुनर्विचार किया जा रहा है, बल्कि कालावधि और कालवाचिकता पर भी सवाल पूछे जा रहे हैं। दक्षिण एशिया में एक लम्बे अरसे तक इतिहास में कालावधि का ढाँचा प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक काल जैसी सार्वभौम श्रेणियों में फँसा रहा। यह कालविभाजन क्रमश: हिंदू, मुसलमान और ब्रिटिश काल को इंगित करता था। हाल के वर्षों में विद्वानों ने कालविभाजन की इस विधि को थोड़ा और पेचीदा बना दिया है। कुछ इतिहासकार दक्षिण एशिया में औपनिवेशिक शासन की स्थापना से एकदम पहले के काल को आरम्भिक आधुनिक काल या अर्ली-मॉडर्न कहने लगे हैं। उनके अनुसार इस काल में कई आधुनिक लक्षण जैसे वर्नाक्युलर इतिहास-लेखन, सेकुलर राजनीति, व्यक्तिगत गतिशीलता, वित्तीय केंद्रीकरण और वैश्विक देशाटन जैसी परिघटनाएँ बख़ूबी उभरने लगी थीं।

औपनिवेशिक सत्ता की स्थापना से पहले एक आरम्भिक आधुनिकता की दावेदारी करके ये विद्वान एक तरह से उस धारणा का खण्डन करना चाहते हैं जो यह मानती है कि दक्षिण एशिया में आधुनिकता औपनिवेशिक सत्ता का तोहफ़ा रही है।[36] अन्य विद्वान मध्यकाल और/या सामंतवाद के विचार को उपनिवेश के परिप्रेक्ष्य से देखे जाने पर भी सवाल उठाते रहे हैं। उनका कहना है कि आधुनिक/मध्यकालीन/ और सेकुलर/धार्मिक जैसे विभाजन सामंतवाद की विश्वव्यापी अवधारणा पर आधारित थे और यह एक ऐसा तत्त्व था जिसने युरोप में सम्प्रभुता और सामाजिक समझौते के सिद्धांतीकरण के अलावा उपनिवेशवाद को औचित्य प्रदान करने तथा सत्रहवीं और अट्ठारहवीं सदी में दास प्रथा के व्यापक अस्वीकार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।[37] इसके अलावा इतिहासकारों का एक समूह ऐसा भी है जो कालविभाजन की किसी भी एकल संरचना सिरे से नकारता है। उनका तर्क

---

[35] संजय सुब्रह्मण्यम (1997), 'कनेक्टिड हिस्ट्रीज़ : नोट्स टूवड्र्स अ रिकन्फ़िगरेशन ऑफ़ अर्ली मॉडर्न युरेशिया', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़,* खण्ड 31, अंक 3, विशेषांक : द युरेशियन कंटेक्स्ट ऑफ़ द अर्ली मॉडर्न हिस्ट्री ऑफ़ मेनलैण्ड साउथ ईस्ट एशिया, 1400–1800, (जुलाई) : 735– 762; मृणालिनी सिन्हा (2000), 'मैपिंग द इम्पीरिअल सोशल फ़ॉर्मेशन : अ मॉडेस्ट प्रपोजल फ़ॉर फ़ेमिनिस्ट हिस्ट्री', *साइंस,* खण्ड 25, अंक 4, फेमिनिज़मम्स एट अ मिलेनियम, ग्रीष्म : 1077–1082; एंड्रू सारटोरी (2008), *बंगाल इन ग्लोबल कंसेप्ट हिस्ट्री : कल्चरलिजम इन द ऐज ऑफ़ कैपिटल,* युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रैस, शिकागो; क्रिस मैनजापरा तथा सुगत बोस (सम्पा.)(2010), *कॉस्मोपॉलिटन थॉट ज़ोंस : साउथ एशिया ऐंड द ग्लोबल सर्कुलेशन ऑफ़ आइडियाज़,* पालग्रेव, लंदन; दीपेश चक्रवर्ती (2009), 'द क्लाइमेट ऑफ़ हिस्ट्री : फ़ोर थीसिस', *क्रिटिकल इन्क्वैरी,* 35 (शरद).

[36] संजय सुबह्मण्यम (1998), 'हिअरिंग वॉयसेज़ : विग्नेट्स ऑफ़ अर्ली मॉडर्निटी इन साउथ एशिया, 1400–1750', *डेडलस,* खण्ड 127, अंक 3, अर्ली मॉडर्निटीज़, ग्रीष्म : 75–104.

[37] कैथलीन डेविस (2008), *पीरिऑडाइज़ेशन ऐंड सॉवरेनिटी : हाउ आइडियाज़ ऑफ़ फ़्यूडलिज़म ऐंड सेकुलराइज़ेशन गवर्न द पॉलिटिक्स ऑफ़ टाइम,* युनिवर्सिटी ऑफ़ पेनसिल्वेनिया प्रेस, फ़िलाडेल्फ़िया.

है कि राजनीति, समाज और संस्कृति के अलग अलग रूपों, मसलन राज्य और साहित्य[38] को प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक ख़ानों में एक साथ ठूँसने के बजाय अलग-अलग कालावधियों में रखना ज़्यादा सही होता है।

दक्षिण एशिया में स्पेस-समय के सवाल पर दोबारा होने वाली इस बहस के पीछे औपनिवेशिक आधुनिकता के बेहद जटिल और दीर्घगामी प्रश्न रहे हैं— जैसे कि अगर आधुनिकता हमेशा औपनिवेशिक आधुनिकता ही बनी रहेगी तो फिर औपिनिवेशिक फाँक के क्षण में प्राक्-औपनिवेशिक रूपों के जीवन की कल्पना कैसे की जा सकेगी। क्या राजनीति, समाज और बौद्धिकता के प्राक्-औपनिवेशिक रूपों का आधुनिकता की स्थापना होने पर चुपचाप अवसान हो जाता है, या वे अतीत की किसी वस्तु की तरह जीवित रह जाते हैं, या क्या वे केवल सांस्कृतिक अवशेषों के रूप में दोबारा नमूदार होते हैं या फिर उनका कोई आधुनिक और समकालीन अस्तित्व भी होता है ? दक्षिण एशिया के संदर्भ में यह सवाल अक्सर परम्परा का सवाल बन जाता है और परम्परा हमेशा इस इलाक़े में इतिहास की एक पड़ोसी अवधारणा, बल्कि एक तरह से उसकी अनुपूरक रही है। जैसा कि हम जानते हैं, दक्षिण एशिया में साभ्यतिक/प्राच्यवाद की बहस ने, जो एक तरह से उपनिवेशवाद के लिए टेक का काम करती रही है, परम्परा के विचार को आधुनिक का समदर्शी अन्य— एक तरह से उसके प्रतिबिम्ब के रूप में चिह्नित किया है। इसका तात्पर्य यह है कि परम्परा की एक नकारात्मक परिभाषा गढ़ी गयी जिसके अनुसार परम्परा एक ऐसी चीज़ है जो आधुनिक नहीं है। उपनिवेशवादी ज्ञान-मीमांसा की यही वह बुनियादी चाल थी जिसने उपनिवेशितों को उनके अतीत की बौद्धिक रीतियों से वंचित करके इस सम्पदा को उस पुराने ख़ाते में डाल दिया जिसे परम्परा कहा जाता था। इसके बाद परम्पराएँ ऐसी राष्ट्रीय-राजनीतिक एकल संरचनाएँ बन गयी जिसका या तो उत्सव मनाया जाता था या फिर निंदा की जाती थी, पर उन्हें सहेजने, उस पर बहस करने या उसे पुनर्संयोजित करने का जतन नहीं किया जाता था।

लिहाज़ा, पिछले कुछ समय से दक्षिण एशिया के इतिहासकारों में परम्परा के विचार पर पुनर्चिंतन की ललक पैदा हुई है। कई आधुनिक इतिहासकारों ने इधर उत्तर-औपनिवेशिक परम्पराओं की थाह लेनी शुरू की है। आज से एक दशक पहले यह बात कल्पना से परे थी, क्योंकि तब इतिहासकारों को प्राचीन, मध्यकाल और आधुनिकता का अनुशासनगत काल-विभाजन स्वीकार करना पड़ता था। परंतु प्राक्-औपनिवेशिक परम्पराओं में आधुनिक इतिहासकारों की यह दिलचस्पी बीसवीं सदी के उन शुरुआती दक्षिण ऐशियाई इतिहासकारों के परम्परावाद से नितांत अलग चीज़ है जिसके तहत वे राष्ट्रीयता के पद-चिह्न खोजने में ज़्यादा मशगूल रहते थे। इसके बजाय आज के इतिहासकार परम्पराओं का उत्खनन करने के लिए राष्ट्रीय सीमाओं और स्पेसों के आर-पार, इसलाम के प्रभुत्व वाले, पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशियाई इलाक़ों के साथ अलग अलग कालखण्डों के बीच आवाजाही करते हैं। समय और स्पेस के इन विस्तृत सिरों के बीच बौद्धिक चहलक़दमी करने की इस सहूलियत ने ख़ुद इतिहास के पद और उन स्थितियों को प्रश्नेय बना दिया है जिन्हें हम ऐतिहासिक चिंतन का नाम देते आये हैं।

इस तरह इतिहास नाम की यह अभिव्यक्ति (अथ कथा का अंदाज़ लेकर चलने वाली लेखन की एक विधा) जिसे दक्षिण एशिया में परम्परागत रूप से इतिहास का समतुल्य पर्याय माना जाता था, अब अपनी खिड़कियाँ भिन्न-भिन्न कालवाचिकताओं और आख्यान के लक्ष्यार्थों के लिए भी खोलने लगी है। आज वह फ़ारसी की तारीख़ (वृत्तांत या कालक्रम), संस्कृत के पुराण (प्राचीन काल के

---

[38] शेल्डन पॉलोक (2006), *द लैंग्वेज ऑफ़ गॉड्स इन द वर्ल्ड ऑफ़ मैन : संस्कृत, कल्चर ऐंड पॉवर इन प्री-मॉडर्न इण्डिया*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ॉर्निया प्रेस, बर्कले.

प्रारम्भिक आख़्यान), चरितावली (राजनीतिक चरित्रों के व्यक्ति-चित्र) और वंशावली (ऐतिहासिक व्यक्तित्वों की जीवन-गाथा) के पास भी जाने लगी है। कभी ऐतिहासिकता को चिंतन की एक एकल और सार्वभौम प्रणाली के अर्थ में लिया जाता था परंतु अतीत को क़लमबंद करने वाले इन अध्ययनों के प्रभावस्वरूप अब इतिहास की संस्कृतियों[39] की बात की जाने लगी है। इसी तरह ऐसे अध्ययनों के परिणामस्वरूप प्राक्-औपनिवेशिक काल में परिवर्तन और नवीनता को अलग अलग तरीक़ों से कल्पित किया जाने लगा है जिससे प्राचीन और आधुनिक का युरो-केंद्रित द्विभाजन संकटग्रस्त हो गया है।[40] इस बीच वर्नाक्युलर इतिहास के अध्ययन में भी लोगों की रुचि बढ़ी है। औपनिवेशिक प्रतिष्ठान के इस आरोप के जवाब में कि उपनिवेशित समाजों में इतिहास-लेखन की कोई परम्परा नहीं थी, कई विद्वानों ने तर्क दिया है कि प्राक्-औपनिवेशिक काल में दक्षिण एशिया में इतिहास-लेखन का एक समृद्ध संसार था। इतिहास के ये देशज आख्यान कई क्षेत्रीय संदर्भों और क्षेत्रीय भाषाओं में प्रकट हुए थे। यह ठीक है कि ऐसे आख़्यान बहुधा ग़ैर-ऐतिहासिक साहित्यिक विधाओं जैसे काव्य, गाथाओं और भविष्यवाची इतिहास में पैबस्त होते थे, परंतु उनमें कई ऐसे विमर्शी संकेत भी होते थे जो उन्हें ऐतिहासिकता की गरिमा प्रदान करते हैं।[41] दूसरे शब्दों में, इस तर्क का मंतव्य यह है कि परम्पराओं को खड़ा किया जा सकता है, अतीत की कालवाचिकता को बदला जा सकता है और नवीनता उन रास्तों से भी चल कर आ सकती है जिन्हें न आधुनिक कहा जा सकता है और न इतिहासवादी। इसी के साथ यह तर्क इस ओर भी इंगित करता है कि इतिहास-चिंतन की परम्पराएँ और इतिहास का आधुनिक अनुशासन एक चीज़ नहीं है। जैसा कि गाँधी के चिंतन से ज़ाहिर होता है, निश्चय ही इन दोनों के बीच फ़र्क़ करना श्रेयस्कर होगा। गाँधी ने इतिहास के वैचारिक और राजनीतिक बेमेलपन में इतिहास की समझ का इस्तेमाल करके ही सत्याग्रह की एक ऐसी राजनीति गढ़ी थी जो मुख्यधारा की उदारतावादी और राष्ट्रवादी राजनीति से क़तई जुदा थी।[42]

आख़िर में हम बेखटके यह बात कह सकते हैं कि दक्षिण एशिया के अकादमिक जगत और सार्वजनिक जीवन में इतिहास और इस नाते ऐतिहासिक चिंतन जोखिमग्रस्त हो गया है। वास्तव में यह कहना भी ग़लत नहीं होगा कि अगर दक्षिण एशिया में ज्ञान के किसी रूप ने राजनीति और चिंतन की हदों को झीना किया है तो उसे निस्संदेह इतिहास का ही नाम दिया जाएगा। इसे देखते हुए यह कहना ग़लत नहीं होगा कि दक्षिण एशिया में वर्तमान की तरह अतीत भी एक रोमांच और मुसलसल जद्दोजहद से भरा है।

संदर्भ

अजय स्कारिया (1998), *हायब्रिड हिस्ट्रीज़ : फ़ॉरेस्ट, फ्रंटियर्स ऐंड वाइल्डरनेस इन वेस्टर्न इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

अजय स्कारिया (2010), 'द स्ट्रेंज वायलेंस ऑफ़ सत्याग्रह', मनु भगवान (सम्पा.), *हेटरोटोपियाज़ : नैशनलिज़म ऐंड द पॉसिबिलिटी ऑफ़ हिस्ट्री इन साउथ एशिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रैस, लंदन.

---

[39] कुमकुम चटर्जी (2009), *द कल्चर्स ऑफ़ हिस्ट्री इन अर्ली मॉडर्न इण्डिया : पैरिसिनाईजेशन ऐंड मुगल कल्चर इन बंगाल,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

[40] यिगाल ब्रोनर (2003), 'व्हाट इज़ न्यू ऐंड व्हाट इज़ नव्य : संस्कृत पोयटिक्स ऑन ईव ऑफ़ कॉलोनियलिज़म', *जर्नल ऑफ़ इण्डियन फ़िलॉसफ़ी,* खण्ड 30 : 441-462.

[41] रज़ीउद्दीन अकील तथा पार्थ चटर्जी (सम्पा.) (2008), *हिस्ट्री इन द वर्नाक्युलर,* परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.

[42] अजय स्कारिया (2010), 'द स्ट्रेंज वायलेंस ऑफ़ सत्याग्रह', मनु भगवान (सम्पा.), *हेटरोटोपियाज़ : नेशनलिज़म ऐंड द पॉसिबिलिटी ऑफ़ हिस्ट्री इन साउथ एशिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.

आदित्य निगम (2010), *आफ़्टर यूटोपिया : मॉडर्निटी, सोशलिज़म ऐंड द पोस्ट-कॉलोनी,* वीवा बुक्स, नयी दिल्ली.

अनुपमा राव (2009), द *कास्ट क्वेश्चन : दलित्स ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ मॉडर्न इण्डिया,* परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.

आशिस नंदी (1995), 'हिस्ट्रीज़ फ़ॉरगोटन डबल्स', *हिस्ट्री ऐंड थियरी,* खण्ड 34, अंक 2.

ई.पी. थॉम्पसन (1967), 'टाइम, वर्क-डिसिप्लिन ऐंड इण्डस्ट्रिअल कैपिटलिज़म', *पास्ट ऐंड प्रज़ेंट,* खण्ड 38, अंक 1.

एफ़. हसर (1970), द *क्राइसिस ऑफ़ युरोपियन साइंसेज़ ऐंड ट्रांसेंडेंटल फ़िनॉमिनालॅजी,* नॉर्थवेस्टर्न युनिवर्सिटी प्रेस, ईवांसटन, आईएल.

एस. गोपाल (सम्पा.) (1991), द *एनॉटॅमी ऑफ़ कन्फ्रंटेशन : द राइज़ ऑफ़ कम्युनल पॉलिटिक्स इन इण्डिया,* पेंग्विन, नयी दिल्ली.

एस.वी. राजादुरई और वी. गीता (1998), *टुवर्ड्स अ नॉन-ब्राह्मण मिलेनियम : फ्रॉम इयोथी दास टू पेरियार,* साम्य, कलकत्ता.

एंड्रू सारटोरी (2008), *बंगाल इन ग्लोबल कंसेप्ट हिस्ट्री : कल्चरलिजम इन द ऐज ऑफ़ कैपिटल,* युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.

क्रिस मैनजापरा तथा सुगत बोस (सम्पा.)(2010), *कॉस्मोपॉलिटन थॉट ज़ोंस : साउथ एशिया ऐंड द ग्लोबल सर्कुलेशन ऑफ़ आइडियाज़,* पालग्रेव, लंदन.

कुमकुम चटर्जी (2005), 'द किंग ऑफ़ कंट्रोवर्सी : हिस्ट्री ऐंड नेशन-मेकिंग इन लेट कोलोनिअल इण्डिया', द *अमेरिकन हिस्टोरिकल रिव्यू,* 110.

कुमकुम चटर्जी (2009), द *कल्चर्स ऑफ़ हिस्ट्री इन अर्ली मॉडर्न इण्डिया : पैरिसिनाईजेशन ऐंड मुगल कल्चर इन बंगाल,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली.

के. सत्यनारायण तथा सूसी थारू (2011), *नो एल्फ़ाबेट इन साइट : न्यू दलित राइटिंग फ्रॉम साउथ इण्डिया,* डॉज़ियर 1, तमिल ऐंड मलयालम, पेंग्विन, नयी दिल्ली.

कैथलीन डेविस (2008), *पीरिऑडाइज़ेशन ऐंड सॉवरेनिटी : हाउ आइडियाज़ ऑफ़ फ़्यूडलिज़म ऐंड सेकुलराइज़ेशन गवर्न द पॉलिटिक्स ऑफ़ टाइम,* युनिवर्सिटी ऑफ़ पेंसिलवेनिया प्रेस, फ़िलाडेलफ़िया.

गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक (1988), 'कैन द सबाल्टर्न स्पीक', *मार्क्सिज़म ऐंड द इंटरप्रिटेशन ऑफ़ कल्चर,* इलिनॉय युनिवर्सिटी प्रेस, इलिनॉय.

गोपाल गुरु (2002), 'हाउ इगैलिटेरिअन आर द सोशल साइंसेज़ इन इण्डिया', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 37, अंक 50.

जी. अगम्बेन (1993), *इनफैंसी ऐंड हिस्ट्री : एसेज़ ऑन द डिस्ट्रक्शन ऑफ़ एक्सपीरिएंस,* अन. एल. हेरोन, वर्सो, न्यूयॉर्क.

जी.डब्ल्यू.एफ़. हीगेल (1975 / 1822), *लेक्चर्स ऑन द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ हिस्ट्री,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

ताराशंकर बनर्जी (1987)(सम्पा.), *हिस्टोरिओग्रॅफ़ी इन मॉडर्न इण्डियन लैंग्वेजिज़, 1880-1947,* नया प्रकाश, कलकत्ता.

थॉमस ट्रॉटमैन (2008), द *क्लैश ऑफ़ क्रॉनोलॅजीज़ : एंशिएंट इण्डिया इन द मॉडर्न वर्ल्ड,* योडा प्रेस, नयी दिल्ली.

दीपेश चक्रवर्ती (1998), 'मायनॉरिटी हिस्ट्रीज़, सबाल्टर्न पास्ट्स', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 33, अंक 9.

दीपेश चक्रवर्ती (2000), *प्रोविंसियलाइज़िंग युरोप : पोस्ट-कोलोनिअल थॉट ऐंड हिस्टोरिकल डिफ़रेंस,* प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, एनजे.

दीपेश चक्रवर्ती (2008), 'द पब्लिक लाइफ़ ऑफ़ हिस्ट्री : एन आर्गूमेंट आउट ऑफ़ इण्डिया', *पब्लिक कल्चर,* खण्ड 20, अंक 1, शरद.

दीपेश चक्रवर्ती (2009), 'द क्लाइमेट ऑफ़ हिस्ट्री : फ़ोर थीसिस', *क्रिटिकल इन्क्वैरी,* 35 (शरद).

प्रथमा बनर्जी (2006), *पॉलिटिक्स ऑफ़ टाइम : प्रिमिटिव ऐंड हिस्ट्री-राइटिंग इन अ कोलोनिअल सोसाइटी,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

प्रथमा बनर्जी (2011), 'द अनटाइमली टैगोर', *सेमिनार : द नेशन ऐंड इट्स पोयट,* जुलाई, http://www.india-seminar.com/2011/623.htm (सितंबर, 2013 को पढ़ा गया).

प्रसेनजित दुआरा (2010), 'एशिया रिडक्स : कंसेप्चुअलाइज़िंग अ रीजन फ़ॉर अवर टाइम्स', द *जर्नल ऑफ़ एशियन स्टडीज़,* खण्ड 69, अंक 4.

17_prathama_Layout 1 5/1/2014 4:59 PM Page 222

प्राची देशपाण्डे (2007), *क्रिएटिव पास्ट्स : हिस्ट्री ऐंड मेमॅरी इन वेस्टर्न इण्डिया 1700–1960,* कैलिफ़ोर्निया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.

पार्थ चटर्जी (2001), 'द नेशन इन हेटरोजेनिअस टाइम', *इण्डियन इकॉनॉमिक ऐंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू,* खण्ड 38, अंक 4..

पी. ग्लेनी तथा नाइजेल थ्रिफ़्ट (1996), 'रिवर्किंग ई.पी. थॉमसंस टाइम, वर्क-डिसिप्लिन ऐंड इण्डस्ट्रिअल कैपिटलिज़म', *टाइम ऐंड सोसाइटी,* खण्ड 5, अंक 3.

बंकिम चंद्र चटर्जी (1880), 'बंगालीर उत्पत्ति' (बंगाली का उद्‌भव) , *बंगदर्शन* .

बद्रीनारायण (2006), *वुमॅन हीरोज़ ऐंड दलित एसरशंस इन नॉदर्न इण्डिया : कल्चर, आइडेंटिटी ऐंड पॉलिटिक्स,* सेज, नयी दिल्ली.

बद्रीनारायण (2011), 'द मेकिंग ऑफ़ दलित पब्लिक इन नॉर्थ इण्डिया : उत्तर प्रदेश, 1950– प्रज़ेंट', ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

मृणालिनी सिन्हा (2000), 'मैपिंग द इम्पीरिअल सोशल फ़ॉर्मेशन : अ मॉडेस्ट प्रपोजल फ़ॉर फ़ेमिनिस्ट हिस्ट्री', साइंस, खण्ड 25, अंक 4, फेमिनिज़मम्स एट अ मिलेनियम, ग्रीष्म.

यिगाल ब्रोनर (2003), 'व्हाट इज़ न्यू ऐंड व्हाट इज़ नव्य : संस्कृत पोयटिक्स ऑन ईव ऑफ़ कॉलोनियलिज़म', *जर्नल ऑफ़ इण्डियन फ़िलॉसफ़ी,* खण्ड 30.

रज़ीउद्दीन अकील तथा पार्थ चटर्जी (सम्पा.) (2008), *हिस्ट्री इन द वर्नाक्युलर,* परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.

रणजीत गुहा (1982), 'ऑन सम आस्पेक्ट्स ऑफ़ द हिस्टोरिओग्रॅफ़ी ऑफ़ कोलोनिअल इण्डिया', *सबाल्टर्न स्टडीज़ 1,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

रणजीत गुहा (1983), 'द प्रोज़ ऑफ़ काउंटर इन्सर्जेंसी', *सबाल्टर्न स्टडीज़ 2,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

रणजीत गुहा (1988), *ऐन इण्डियन हिस्टोरिओग्रफ़ी ऑफ़ इण्डिया: अ नाईन्टीन्थ सेंचुरी एजेण्डा ऐंड इट्स इम्पिलिकेशंस,* के.पी. बागची, कलकत्ता.

रणजीत गुहा (2002) (सम्पा.), *हिस्ट्री एट द लिमिट ऑफ़ वर्ल्ड हिस्ट्री,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

रोजालिण्ड ओ हैनलॉन (1985), *कास्ट, कांफ़्लिक्ट ऐंड आइडियालॅजी : महात्मा ज्योति राव फुले ऐंड लो कास्ट प्रोटेस्ट इन नाइंटींथ सेंचुरी वेस्टर्न इण्डिया,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

विनय लाल (2003), द *हिस्ट्री ऑफ़ हिस्ट्री : पॉलिटिक्स ऐंड स्कॉलरशिप इन मॉडर्न इण्डिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

विनायक चतुर्वेदी (2007), *पेजेंट्स पास्ट्स: हिस्ट्री ऐंड मेमॅरी इन वेस्टर्न इण्डिया,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया, बर्कले.

शर्मिला रेगे (2006), *राइटिंग कास्ट, राइटिंग जेण्डर : दलित वुमॅन टेस्टिमॅनीज़,* ज़ुबान, नयी दिल्ली.

शेल्डन पॉलोक (2006), *द लैंग्वेज ऑफ़ गॉड्स इन द वर्ल्ड ऑफ़ मैन : संस्कृत, कल्चर ऐंड पॉवर इन प्री-मॉडर्न इण्डिया,* युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ॉर्निया प्रेस, बर्कले.

शेल्डन पोलॉक (2007), 'वी नीड टू फ़ाइंड व्हाट वी आर नॉट लुकिंग फॉर', *आईआईएएस न्यूज़ लैटर, वसंत.*

संजय सुब्रह्मण्यम (1997), 'कनेक्टिड हिस्ट्रीज़ : नोट्स टूवड्र्स अ रिकन्फ़िगरेशन ऑफ़ अर्ली मॉडर्न युरेशिया', *मॉडर्न एशियन स्टडीज़,* खण्ड 31, अंक 3, विशेषांक : द युरेशियन कंटेक्स्ट ऑफ़ द अर्ली मॉडर्न हिस्ट्री ऑफ़ मेनलैण्ड साउथ ईस्ट एशिया, 1400–1800, (जुलाई).

संजय सुब्रह्मण्यम (1998), 'हिअरिंग वॉयसेज़ : विग्नेट्स ऑफ़ अर्ली मॉडर्निटी इन साउथ एशिया, 1400–1750', *डेडलस,* खण्ड 127, अंक 3, अर्ली मॉडर्निटीज़, ग्रीष्म.

सुमित सरकार (2000), 'द डिक्लाइन ऑफ़ सबाल्टर्न इन सबाल्टर्न स्टडीज़', विनायक चतुर्वेदी (सम्पा.), *मैपिंग सबाल्टर्न स्टडीज़ ऐंड द पोस्ट-कोलोनिअल,* वर्सो, लंदन.

ज्ञानेंद्र पाण्डे (1994), 'मोड ऑफ़ हिस्ट्री-राइटिंग : न्यू हिंदू हिस्ट्री ऑफ़ अयोध्या', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली,* खण्ड 29, अंक 25.